कहानियों के सम्बन्ध में

मैंने कहानियाँ लिखना सन् १९३४ में प्रारंभ किया था। प्रथम कहानी लिखने की प्रेरणा अपने ही परिवार की एक मर्मस्पर्शी घटना से मिली थी। केवल पात्रों के नाम बदल कर वह कहानी अपने मूलरूप में ही, इस संग्रह के अंत में दे दी गई है। इस प्रकार 'त्याग' कहानीकार के रूप में मेरे जीवन का प्रथम प्रयास है। प्रारंभिक जीवन की और भी कई कहानियाँ इस संग्रह में हैं। 'जय-पराजय', 'खारे-जलकण', 'क्या कहूँ', 'टी-सेट', 'रजनी के आँसू', और 'एक प्रश्न', अपेक्षाकृत बाद की रचनाएँ हैं। 'स्वतंत्रता की बलि-वेदी पर' कहानी में विदेशी पृष्ठभूमि क्यों दे दी गई थी, यह इस समय ठीक-ठीक याद नहीं है; चित्र तो वह भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम का है। इस प्रकार, अगर उसमें कुछ विज्ञ पाठकों को 'एनार्कानिज़्म' मिले तो स्वाभाविक ही है।

सन् ३४, ३५ में देश की आर्थिक स्थिति बड़ी विषम थी। उस समय बी० ए० पास करके पच्चीस-तीस रुपये प्रतिमास की नौकरी प्राप्त करना भी कठिन हो जाता था और सुबह से शाम तक मज़दूरी की तलाश में घूमने पर भी यह निश्चय नहीं हो पाता था कि पेट भर अन्न की व्यवस्था हो सकेगी या नहीं। पहाड़ों से आए हुए, बारह-पन्द्रह वर्ष के बच्चों का झुंड का झुंड, देहरादून में, केवल दो जून

रोटी पर नौकरी तलाश करता फिरता था। सन् ३० के सविनय अवज्ञा आंदोलन की असफलता ने निराशा को और भी घनीभूत कर दिया था। आज तटस्थ रूप से सोचने पर लगता है कि कहीं इस संग्रह की अधिकांश कहानियों में, पात्रों की असफलता और उनका घनीभूत विषाद, उस युग की परिस्थितियों के कारण तो नहीं है? इस बात की ओर संकेत करके मैं ऐसे पात्रों के सृजन के उत्तरदायित्व से अपने आपको मुक्त नहीं करना चाहता जो परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने में नितांत असफल रहे हैं!

'त्याग' के अतिरिक्त और सब कहानियाँ पत्रों में तो प्रकाशित हो गई थीं किन्तु पुस्तक रूप में, आज दस-बारह वर्ष बाद, पाठकों के हाथों में पहुँच रही हैं। इस बीच में, कहानी के उद्देश्य में भी परिवर्तन हुआ है और कला के दृष्टिकोण से भी वह आगे बढ़ी है। फिर भी मुझे विश्वास है कि इस संग्रह की कहानियों से पाठकों का मनोरंजन होगा और कुछ को सोचने की प्रेरणा भी मिलेगी।

— ब्रजमोहन

निर्देशिका

कहानी			पृष्ठ संख्या
१—जय-पराजय	...	...	१
२—खारे-जलकण	...	...	१०
३—देहली में	...	...	१८
४—लेखक	...	...	२६
५—क्या कहें ?	...	...	३३
६—स्वतंत्रता की बलि-वेदी पर !	...	...	३६
७—दो आँसू	...	...	४७
८—दैवी आपत्ति या मानवी ?	...	...	५७
९—कारण-मीमांसा	...	...	६३
१०—भूकम्प के आतंक से !	...	...	७०
११—बलिदान	...	...	७९
१२—अभागा	...	...	८६
१३—कवि	...	...	९३
१४—टी-सेट	...	...	१०४
१५—अधूरी कहानी	...	...	११३
१६—रजनी के आँसू	...	...	१२१
१७—एक प्रश्न	...	...	१३२
१८—त्याग	...	...	१४१

ज
य
प
रा
ज
य

प्रयाग में दो वर्ष का विद्यार्थी जीवन समाप्त कर जब घर लौट रहा था तो मन कुछ भारी सा था। और बार जब प्रयाग से घर जाया करता था, तो साथ में केवल थोड़ा-सा सामान होता था। स्थिति ने निश्चय करा दिया था कि एम० ए० में पढ़ने के लिए अगले वर्ष प्रयाग नहीं आ सकूंगा, इसलिए साथ में सम्पूर्ण सामान था, और कुछ धुंधल-धुंधला-सा हृदय की गहराई से घुमड़-घुमड़ कर उठता और चित्त में एक प्रकार की विरक्ति सी उत्पन्न कर देता था। मैं अटेची में से विक्टर ह्यूगो का 'लामिज़रेबिल' निकाल कर पढ़ने लगा।

जब आज से दो वर्ष पूर्व मैंने 'लामिज़रेबिल' का फ़िल्म देखा था तो जीन वेलजीन के जीवन में आमूल परिवर्त्तन कर देने वाले उस पवित्र पादरी के "गिव, एंड डोंट टेक" के सिद्धान्त और उपदेश ने मुझे बहुत ही अधिक प्रभावित किया था। उस दिन मैंने

सोचा था कि इस सिद्धान्त की डोर पकड़ कर मानव, जीवन में आध्यात्मिक उन्नति के बहुत ऊँचे तल तक पहुंच सकता है ; वह बहुत से दुखों तथा परेशानियों से छुटकारा पा सकता है। उस दिन मैंने प्रतिज्ञा की थी कि दैनिक जीवन में, अपने प्रति-क्षण के जीवन में, जहाँ तक सम्भव होगा, इस सिद्धान्त पर चलने का प्रयत्न करूँगा, इसके बाद ही यूनिवर्सिटी में, बी० ए० में, पढ़ने के लिए मैं प्रयाग आ गया था।

वहाँ पर वह विद्यार्थी जिससे सर्वप्रथम भेंट हुई थी और जो थोड़े ही दिनों में मेरा घनिष्टतम मित्र हो गया था, रजनी रंजन था ; और लड़के उसे रंजन कहकर पुकारते थे। जब-तब अवसर पड़ने पर मैंने उसके लिए क्या किया, और उसने मेरे लिए क्या किया, यह सब कहानी में लिखने की बात नहीं है। इतना कहना पर्याप्त होगा कि छे महीने पश्चात् वह मेरे इतने निकट था और वह मुझे इतना प्रिय था, जितना शायद और कोई भी मित्र नहीं हुआ।

तभी मुझे ज्ञात हुआ कि हिन्दी के प्रसिद्ध कवि जयन्त प्रयाग ही में रहते हैं। मैंने उनकी बहुत सी रचनाएँ पढ़ी थीं और वे मुझे प्रिय थीं।

एक मित्र के साथ मैं उनसे मिलने गया। सत्ताइस-अट्ठाइस वर्ष की आयु, कंधे पर बल खाते हुए लम्बे रूखे से बाल, दुबला चेहरा, चेहरे पर दार्शनिकों जैसी गम्भीरता और रेखाएँ, चारों तरफ उदासी का वातावरण, मानो अपने साथ कोई गम्भीर ट्रेजिडि लिए घूमते हैं।

उन्होंने सौजन्य, सरलता और स्नेह के साथ वे मुझ अपरिचित

से मिले, यह शब्दों में व्यक्त की जा सकने वाली बात नहीं है। उन्होंने मेरा छात्रावास का पता पूछ लिया था। चार-पाँच दिन के बाद वे 'विजिट रिटर्न' करने मेरे पास छात्रावास में आए। उसके बाद हम दोनों में घनिष्टता बढ़ती गई, बढ़ती ही गई; कैसे लिखू कितनी बढ़ गई।

× × ×

एक दिन सायंकाल के समय जयंत जी मेरे यहाँ बैठे हुए थे, तभी रंजन भी वहाँ आ गया, बहुत देर तक इधर-उधर की बातें होती रहीं। जब जयन्त जी चलने को हुए तो रंजन ने पूछा, "क्या थोड़ी देर के लिए मेरे यहाँ चल सकेंगे?"

"यहीं बहुत देर हो गई है, अब घर जाना है—एक आवश्यक कार्य भी है।" जयन्त जी ने उत्तर दिया।

"जी हाँ ठीक है, बड़े आदमी बड़े आदमियों के यहाँ ही आते हैं।" रंजन ने व्यंग के साथ कहा।

तभी मैंने कोट-पेंट, हेट-टाई धारी रंजन को एक बार ऊपर से नीचे तक देखा, मानो उस दिन उस चिरपरिचित से रंजन में कोई नवीनता दृष्टिगोचर हुई हो। तभी मेरी दृष्टि अपनी मैली सी आधी आस्तीनों की कमीज़ और धोती की ओर चली गई। रंजन एक कोठी के आधे हिस्से में रहता था, काउचेज़ से सजा-संजाया बैठने का वह बड़ा हाल! मेरे पास छात्रावास की एक छोटी सी कोटरी थी। इस 'बड़े-छोटे' का क्या अर्थ? प्रश्न की एक लहर सी मेरे मस्तिष्क में कौंध गई।

तभी जयन्त जी ने कहा, "अगर इतना आग्रह है तो चला चलूंगा, कोई हर्ज नहीं।"

रंजन ने मुझे भी चलने के लिए कहा और हम तीनों उसके यहाँ पहुंच गए। उसने महाराज को चाय तैयार करने के लिए कहा और एक नौकर को साइकिल पर बाज़ार भेजा! तब कोठी में रहने वाले अन्य व्यक्तियों से जयन्त जी का परिचय कराया, "आप हिन्दी जगत के सुप्रसिद्ध कवि श्रीयुत जयन्त, आपके नाम से आप सभी लोग परिचित होंगे। आप मेरे बहुत ही अधिक घनिष्ट मित्रों में से हैं।"

जब चाय सामने आई तो उसके साथ रसमलाई, फटे दूध का सफ़ेद रसगुल्ला, समोसे, नमकीन, सैंडविचेज़, टोस्ट, केक, अंगूर, केले आदि लगभग एक दर्जन चीज़ें थीं।

उस दिन के बाद से मैं अपने जीवन में एक प्रकार के संघर्ष का अनुभव करने लगा। मैंने देखा रंजन जयन्त जी की मित्रता से अपने आपको समाज में गौरवान्वित अनुभव करता है और इसलिए अपनी उनकी मित्रता का ढोल भी कम नहीं पीटता। मेरे लिए मित्रों का स्नेह सदा साध्य रहा था। साधन कभी नहीं बना था। अगर किसी बड़े व्यक्ति के निकट सम्पर्क से आनन्द प्राप्त होता है, तो मैंने यह कभी अनुभव नहीं किया था कि आनन्द को बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि सैकड़ों-हज़ारों व्यक्तियों की आँखें उस निकट सम्पर्क पर हों। यहाँ स्थिति दूसरी हो गई। इसीलिए मैंने देखा रंजन जयन्त जी से घनिष्ठता बढ़ाने के लिए अत्यन्त प्रयत्नशील है और वह मानता है कि सफलता के लिए मेरे और जयन्त जी के बीच में एक गहरी

खाई खोदनी होगी, अगर सम्भव हुआ तो मुझे उनकी नज़रों से गिराना होगा, तभी मैंने समझा था कि मित्रता भी एक कला है; शायद बहुत ही कृत्रिम और प्रयासपूर्ण कला, और रंजन इस कला में दक्ष है। तभी मैंने समझा था कि सहानुभूति को व्यक्त करने के लिए अगर किसी व्यक्ति के पास पैसा नहीं है तो उसका कुछ महत्व नहीं, कुछ भी तो नहीं !

तभी एक दिन 'लामिजरेबिल' पर निगाह पड़ने पर मैंने सोचा था कि मैं तो 'गिव एण्ड डोंट टेक' के सिद्धान्त पर चलने की प्रतिज्ञा कर चुका हूं, मुझे रंजन के मार्ग से हट जाना चाहिए। मैं मार्ग से हट जाऊँगा।

रंजन का प्रयत्न, जयन्त जी की उसके साथ घनिष्ठता और उनकी मेरी ओर उपेक्षा धीरे-धीरे बढ़ती जाती थी। और मुझे सन्तोष था कि मैं उनके मार्ग में कंटक नहीं बन रहा हूं। मैं अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ हूं—इस पराजय में मेरी विजय हो रही है।

एक दिन हम तीनों को घूमते-घूमते बहुत रात हो गई थी। जयन्त जी का मकान लगभग तीन मील था। जब हम लोग रंजन के यहाँ पहुंचे तो निश्चय हुआ कि इस समय जयन्त जी घर न लौटें, वहीं टिक जायँ। चलते ढँग से रंजन ने मुझे भी रुकने के लिए कहा। मेरा छात्रावास एक फ़र्लाङ्ग भी नहीं था। मैंने जाने का आग्रह किया। जयन्त जी ने कहा, "विभव को उसके होस्टल तक छोड़ आवें।"

"मैं तो बहुत ही थका हुआ हूं।" कोट खूंटी पर टाँग कर और अपने शरीर को गद्दा बिछे पलंग पर डालते हुए ऐसे ढंग से रंजन ने

रहा, मानो नए सड़क पर लगातार दस घण्टे पत्थर तोड़कर लौटा हो और तब चारपाई पर लेटे-लेटे ही उसने अपनी टाई निकाली।

"तुम लेटो, मैं विभव को छोड़कर अभी दस मिनिट में आया।" जयन्त जी ने उत्तर दिया।

"विभव, मेरी साइकिल पर चले जाओ, बाहर खड़ी है।" अपने शरीर को कोहनी के सहारे थोड़ा सा उठाते हुए रंजन ने कहा।

"होस्टल है ही कितनी दूर, मैं अकेला ही पैदल चला जाऊँगा।" मैंने आग्रह किया।

"नहीं मैं भी वहीं तक चलता हूँ", कहकर जयन्त जी कुर्सी छोड़कर खड़े हो गए।

तभी रंजन भी अनमना सा उठा और कोट पहन कर साथ हो लिया।

मार्ग में [illegible] जयन्त जी ने उस समय की चर्चा छेड़ी जब वे और मैं [illegible] गए थे, तो रंजन ने बीच ही में अपने पिछले [illegible] के रोमांटिक एडवेंचर सुनाने शुरू कर दिए जब वह अपनी एक [illegible] बी० ए० पास प्रेयसी के साथ काश्मीर गया था और उसकी [illegible] और जयन्त जी को चार-चार [illegible] सुनाई हुई वह [illegible] तब तक समाप्त न हुई जब तक [illegible] का द्वार न आ गया।

[illegible] और [illegible] और [illegible] बी० ए० [illegible] समाप्त हो गई। रंजन ने [illegible] [illegible] किया था।

[illegible]

मेरा भाग्य यह फ़ैसला दे चुका था कि मेरा विद्यार्थी जीवन सदा के लिए समाप्त हो चुका है और इस बात का मुझे केवल थोड़ा रंज नहीं था। मैं सोचता था अब प्रयाग न जाने कब आना हो, क्योंकि मेरे लिए रेल ने प्रयाग और देहरादून का फ़ासला कुछ भी कम नहीं किया था। ध्यान आता, यहाँ के मित्रों और परिचितों से न जाने कब मिलना हो। जयन्त जी सकुटुम्ब प्रयाग ही रहते थे। रंजन को बनारस जाना था और उसका छुट्टियों में भी दो बार प्रयाग आने का प्रोग्राम था।

मेरे कनसेशन टिकट के साथी छब्बीस अप्रैल को जा रहे थे और मुझे भी उन्हीं के साथ जाना था। रंजन ने पच्चीस अप्रैल को जाने का प्रोग्राम बनाया; उसकी गाड़ी शाम को पाँच बजे जाती थी। उस दिन सुबह ही से मैं और जयन्त जी रंजन के यहाँ चले गए थे और जो थोड़ा बहुत सामान उसे साथ ले जाना था बँधवा कर ठीक करा दिया था।

जयन्त जी तीन बजे घर लौट गए थे। मैं रंजन को छोड़ने स्टेशन आया। गाड़ी छूटने से कोई पन्द्रह मिनिट पूर्व जयन्त जी भी स्टेशन आ गये। जब गाड़ी छूट चुकी तो उन्होंने मुझसे पूछा, "कल शाम की गाड़ी से जाना है या रात की गाड़ी से! आज का सारा दिन ख़राब हो गया, कुछ भी कार्य नहीं हुआ, अगर शाम की गाड़ी से गए और अवसर मिला तो स्टेशन आऊँगा!"

"मैंने रात की गाड़ी से जाना निश्चय किया है। इसमें क्या तकल्लुफ है! आप कष्ट न करें," मैंने विनीत भाव से उत्तर दिया।

बात

यद्यपि मैं जानता था कि सब लड़कों ने शाम की गाड़ी से जाना ही निश्चय किया है।

अगले दिन प्रातःकाल, जब रात भर करवटें बदलने के बाद मैं केवल दो घण्टे सो कर उठा तो मुझे ऐसा लगा मानो मैं चारों ओर से असम्बन्ध, शून्य में लटका हुआ हूं। दो वर्ष तक ढो-ढोकर लाया हुआ बहुत सारा सामान मेरे सामने कमरे में अस्त व्यस्त पड़ा हुआ था और उसे देख-देख कर बुखार सा चढ़ता था। तभी एक अजीब सी मस्ती में पागल सा घूमते रहने वाला, वह जीवन में नितांत एकाकी चित्रकार, प्रफुल्ल आ गया, जिसने इसी वर्ष एम० ए० की परीक्षा साल भर तक डबल रोटी और कच्ची तरकारी खा-खा कर दी है!

उसने तीन घण्टे में बिना मुझसे कुछ पूछे सारा सामान बाँध कर तैयार कर दिया और मेरे हृदय ने उसके प्रति बहुत ही अधिक कृतज्ञता का अनुभव किया।

और क्योंकि 'लामिजरेबिल' ने याद दिला दिया है, मैं ट्रेन ही में हिसाब लगाने बैठा हूं कि "गिव एण्ड डोंट टेक" के सिद्धान्त पर चलने की प्रतिज्ञा के विषय में, मैं कहाँ तक विजयी हुआ हूं, कहाँ तक पराजित हुआ हूं! यह निश्चय करने के लिए मैं अपने हृदय के गहरे से गहरे कोने को टटोल कर देखता हूं कि रंजन के प्रति मेरे हृदय के उस "मातृ स्नेह," का कितना अंश अभी शेष है जो मुझे "स्पेशल फूड" वाले दिन बाध्य किया करता था कि थाली में से सब अच्छी अच्छी चीज़ें रंजन के लिए उठाकर अलमारी में छिपा दूँ! मैं अपने

हृदय के गहरे से गहरे कोने में टटोल कर देखता हूं कि जयन्त जी के प्रति मेरे हृदय की आत्मोत्सर्ग की उस भावना का अभी कितना अंश शेष है जो मुझे प्रेरित किया करती थी कि अपनी सम्पूर्ण सत्ता सहित मैं अपने आपे को उनके चरणों में एक छोटे से ताज़े फूल के समान अर्पित कर दूँ ? मैं अपने विह्वल हृदय से पूछता हूं कि क्या यह असम्भव है कि मानव जिस व्यक्ति से किसी भी क्षेत्र में कुछ पाता नहीं, उसे अपने भावना-जगत में कुछ प्रदान कर सके ? इन प्रश्नों का जो उत्तर मुझे मिला है उसे जान कर आप लोग क्या करेंगे !

खा
रे
ज
ल
क
था

जब छात्रावस्था में वर्षों के पारस्परिक सहयोग व प्रेममय जीवन के पश्चात् सतीश और कनकलता को सहसा ज्ञात हुआ कि समाज और उनके माता-पिता, जाति भेद की परिधि का अतिक्रमण कर, विवाह करने की आज्ञा उन्हें नहीं दे सकते, तो दोनों को ऐसा प्रतीत हुआ मानो सुनहले बादलों से वे अचानक कंटकमय भूमि पर आ गिरे हों। हिन्दू-समाज में लड़की को तो उस व्यक्ति के चुनाव के विषय में बोलने तक का भी अधिकार है नहीं, जिसके साथ उसे सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करना है। कनकलता के भी विवाह की तैयारियाँ बड़ी धूमधाम के साथ हुई और बड़ी सज धज के साथ बारात भी आगई।

जिस दिन रात को फेरे थे, उससे अगले दिन प्रातःकाल सतीश अनमना सा बैठा, आँखें फाड़ फाड़ कर शून्य में कुछ पढ़ने का प्रयत्न

कर रहा था। जब उसकी माँ ने एक तशतरी में थोड़ी सी मिठाई और पाँच रुपये उसके सामने रखते हुए कहा "ज़रा जल्दी कनक के यहाँ दे आ, उसकी माँजी से कहना कि टीके के हैं," तो उसे ऐसा लगा मानो स्वप्न देखते देखते सहसा आँखें खुल गई हों।

जब वह घर के द्वार ही पर खड़ा-खड़ा तशतरी तथा रुपये देकर कनक की माँजी के प्रश्नों के उत्तर दे रहा था, तो उसने देखा, सामने वाले बड़े कमरे के द्वार पर कनक खड़ी है, लाल साड़ी, जम्फर तथा गहनों से सजी कनक की वह छटा उसके हृदय-पटल पर अङ्कित हो गई। उसे ऐसा लगा मानो उसके उन दो बड़े-बड़े नेत्रों में उसने दो उज्ज्वल मोती ढुलक कर कपोलों पर आ जाने के लिए प्रयत्नशील देखे हैं और उसका अपना अहम्, मोह, अस्तित्व ही उनमें घुल कर न जाने कहाँ बह गया है। जब वह कनक के यहाँ से लौट रहा था तो जीवन के प्रति एक प्रकार की उपेक्षा और उदासी का भाव उसके हृदय में गहरा समाता जा रहा था।

उसका विवाह कराने का इरादा नहीं था। पिता के आग्रह की चिन्ता उसने नहीं की, किन्तु माता के आँसुओं के सम्मुख उसकी हठ टिक न सकी। आँसू ही तो ऐसी चीज़ हैं, जिनके आगे कभी पराजय स्वीकार न करने वाले व्यक्तियों को भी घुटने टेक देने पड़े हैं और फिर जननी के आँसू ! अपने जीवन के प्रति उपेक्षा का भाव लिए फिरने वाला सतीश इन थोड़े से जलकणों के लिए उपेक्षा कहाँ से लाए ! उसने विवाह के लिए अनुमति देदी, किन्तु भावी पत्नी को देखने जाने के लिए कहे जाने पर उसने इंकार कर दिया।
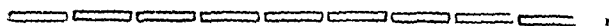
दबाने तथा पैर मलने की इजाज़त नहीं देसका था, और इस बात पर सरोज अन्दर ही अन्दर पानी से अलग हुई मछली के समान छटपटा कर रह गई थी।

सतीश की रुचि आगे पढ़ने की ओर देखकर सरोज ने भी उसे अपनी निजी इच्छा के प्रतिकूल एम० ए० ज्वाइन करने ही की राय दी थी!

एम० ए० में पढ़ने के लिए जब वह घर पर सरोज को छोड़ कर बनारस आ गया था, तो तीन ही महीने बाद उसे सूचना मिली कि सरोज बीमार है, उसे हमेशा ज्वर रहता है, खाँसी भी है, डाक्टरों का खयाल है शायद तपेदिक हो गया है। उसके मन का वातावरण कुछ अशांत सा होगया, दशहरे पर एक महीने की छुट्टियों में जब वह घर आया, तो उसने देखा, इतने ही दिनों में सरोज सूख कर काँटा होगई है और उसका दूधिया गुलाबी भरा हुआ सुन्दर चेहरा, बिल्कुल पीला पड़ गया है और तब वह किसी अज्ञात आशंका से सिहर उठा। वह सोचने लगा इस निर्दोष स्त्री को यह किस अपराध की सज़ा मिल रही है। रात को जब वह लगने वाली भयंकर बीमारी की चिन्ता न करके उसके पास ही लेटा हुआ था, उसने सरोज का हाथ अपने हाथों में लेते हुए कहा, 'मेरे पल्ले बँधकर तुम्हें कितना दुख सहन करना पड़ा' और इसके बाद ही सरोज ने अपने कानों के समीप ही तकिये पर टप-टप की आवाज़ सुनी, 'इतने समझदार होकर तुम कैसी बातें कहते हो' कह कर सरोज ने अपने आँचल से सतीश के नेत्र पोंछ दिए। इन कुछ शब्दों के अतिरिक्त वह कुछ भी कह न सकी। उसे लग रहा था मानो

उसका सम्पूर्ण शरीर, आत्मा, मन, गल-गल कर पानी हुआ जा रहा है। उसकी इच्छा होती थी कि आज अपना सम्पूर्ण स्त्रीत्व इस पुरुष के चरणों पर आँसुवों से रूप में चढ़ादे, जो उसके समीप रह कर भी सदा उससे दूर ही दूर रहा था !

वातावरण की असह्य गम्भीरता को दूर करने के लिए बात बदलते हुए सतीश ने कहा, "सारे बदन में न जाने कैसा दर्द सा हो रहा है" "थोड़ा दबा दूँ" कहकर सरोज बिना उत्तर की प्रतीक्षा किए ही बड़ी उत्सुकता और तत्परता से उठ बैठी, उसकी इस बीमारी और निर्बलता की दशा में भी आज सतीश उसे बदन दबाने से मना न कर सका। मौन रह कर ही उसने अपनी स्वीकृति दे दी। पीठ दबा चुकने पर जब सरोज उसके पैर दबा रही थी तो दो गर्म-गर्म जल-बिन्दु सतीश के पैरों पर गिरे। उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो आज चार आँखों से गिरे कुछ खारे जल-कणों ने उनके पारस्परिक सम्बन्ध के सम्पूर्ण खारेपन को बिल्कुल दूर कर दिया हो।

सरोज जिस शीघ्रता के साथ स्वस्थ हो रही थी, उस पर डाक्टरों को भी आश्चर्य हो रहा था। बहुत से रोगों के वास्तविक कारण तथा उसके इलाज तक पहुँचने की शक्ति, मानव शरीर को एक प्रकार की मशीन समझने वाले डाक्टरों के पास आज भी कितनी कम है !

इसी बीच में ठंड लग जाने के कारण सतीश को अचानक निमोनिया हो गया। अपने अविराम परिश्रम से सरोज ने सतीश को तो शीघ्र ही अच्छा कर लिया किन्तु उसका अपना निर्बल शरीर उस दिन-रात के परिश्रम को बरदाश्त नहीं कर सका। उसका रोग फिर लौट आया।

सतीश की समझ में भली प्रकार आ चुका था कि पहला सब कुछ सपना था, सत्य यह है जो इस समय है, और यह समझ आते ही उसका सत्य सदा के लिए उससे सम्बन्ध विच्छेद कर किसी अज्ञात लोक को चले जाने के लिए तैयारी करने लगा। सतीश विह्वल हो उठा। वह अपना सर्वस्व देकर भी अपने इस नव परिचित सत्य क छोड़ने के लिए तैयार नहीं था।

और एक दिन संध्या के समय जब सूर्य इधर-उधर छिटके बादलों को रक्त-रंजित कर रात्रि के विश्राम की तैयारी कर रहा था, सतीश ने करुणा और निराश भरे नेत्रों से सरोज की ओर देखते हुए कहा, 'यहाँ तो फ़ायदा होता नहीं, चलो देहली चलें' सरोज के बहुत मना करने पर भी आग्रह करके वह उसे दिल्ली लेगया।

इलाज में उसने कर्ज भी काफ़ी कर लिया था। किन्तु सरोज की दशा दिन पर दिन ख़राब ही होती चली गई, और एक दिन जब उसकी हालत कुछ क्षणों के लिए अच्छी प्रतीत होने लगी थी, उसने सतीश का हाथ अपने हाथ में लेकर कहा, "अगर मेरी मृत्यु अब से दो महीने पूर्व हो जाती तो कभी भी मेरी आत्मा को शांति प्राप्त न होती, किन्तु आज मुझे मरने का ज़रा भी दुःख नहीं," इसका सतीश क्या उत्तर देता? उसने चुपचाप अपने नेत्रों से कुछ आँसू पोंछ लिए। सरोज के चेहरे पर इस समय ज़रा भी मलिनता या उदासी नहीं थी, उसने मुस्काने का प्रयत्न करते हुए कहा, "आज आखरी समय एक वरदान माँगती हूं! दोगे?"

"तुम्हारे लिए सब कुछ करने को तैयार हूं सरोज, किन्तु आख़री

देहली में

उस दिन प्रातःकाल लाल क़िले को देख कर लौटते समय हम दोनों वाद-विवाद में इतने तल्लीन हो गये कि होटल से भी बहुत आगे निकल गए। जब विवाद का बाज़ार ज़रा ठण्डा पड़ा तो अपने को होटल से भी एक मील और आगे पाकर हम दोनों भौंचक्के से रह गए। कुछ समय तक एक-दूसरे की ओर देखकर हँसते रहे और फिर वापिस होटल का रास्ता लिया।

विवाद का विषय था, उग्रजी का सुप्रसिद्ध उपन्यास 'दिल्ली का दलाल' मैं उसे एक विद्वान् लेखक के मस्तिष्क की कलापूर्ण उपज बता रहा था और मेरे मित्र सच्ची घटनाओं का सजीव चित्र। विवाद का विषय उपन्यास की सजीवता अथवा निर्जीवता नहीं अपितु उसका सत्य के साथ सम्बन्ध था। 'उसमें वर्णित घटनाएँ क्या मानव-समाज में घटित हो सकती हैं? क्या उनका सत्य होना सम्भव है?' यह प्रश्न

मेरे हृदय के कोने-कोने में गूंज रहा था। मैं अन्तर्तात्मा से इस प्रश्न का उत्तर चाहता था। किन्तु वहाँ तो यही प्रतिध्वनि सुनाई देती थी 'क्यों जी, क्या मानव-समाज में ऐसी घटनाएँ घटित हो सकती हैं ?' हृदय में जितनी अधिक गहराई तक मैंने यह प्रश्न पहुंचाया, उतनी ही तीव्र प्रतिध्वनि मुझे सुनाई दी। 'मानव-समाज में इस प्रकार की घटनाएँ कैसे सम्भव हैं ?' फिर उसका प्रतिपादन हुआ। 'मानव-हृदय में वासना होती है, किन्तु दया का अंकुर भी तो उसके अन्दर है ही। मानव-हृदय कठोर हो सकता है—वह पत्थर बन सकता है, किन्तु उसके एक कोने में जो जीवन-ज्योति दीप्तिमान है, उसे तो बुझाया नहीं जा सकता। फिर भी क्या उनका मानव-समाज में होना सम्भव है ?' मेरे मित्र उन्हें सत्य सिद्ध करने के लिए प्रमाण-पर-प्रमाण दे रहे थे और मेरी मानसिक अशान्ति बढ़ रही थी क्योंकि मेरे हृदय के प्रश्न का उत्तर तो उनमें मिलता न था। मेरे मित्र आगरे के जनरल मर्चेंट हैं। उन्होंने कहा 'हमें दूसरे-तीसरे महीने यहाँ आना पड़ता है, इसलिए यहाँ का सब हाल हमें भली भाँति ज्ञात है। हम आपको वह गली और वह मकान तक दिखा सकते हैं जिसमें उग्रजी ने बदमाशों के अड्डे का वर्णन किया है।' 'आप कुछ भी कहें पर मुझे तो विश्वास नहीं होता।' मैंने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया। 'आप तो दिल्ली के दलाल की घटनाओं को भी सत्य नहीं मानते किन्तु मैं आपको और भी अनेक ऐसी घटनाएँ बता सकता हूं जो उनसे भी अधिक विचित्र हैं।'

'क्या आँखों देखी घटनाएँ', मैंने व्यग्रतापूर्वक पूछा। किन्तु वे मेरे प्रश्न पर बिना विशेष ध्यान दिए ही कहते गए। 'यहाँ का

वातावरण इतना दूषित है कि उसने यहाँ के अनेक भले घरों की स्त्रियों के चरित्र को भी अत्यन्त घृणित बना दिया है। यहाँ के दूषित वातावरण की छाया यहाँ की स्त्रियों के मस्तिष्कों पर इतनी गहरी पड़ी है कि वे स्वेच्छा से उस घृणित पथ पर अग्रसर होती हैं और पतन के अतल गर्त में गिरकर सदैव के लिए बुरे चरित्र के अन्धकार में विलीन हो जाती हैं।' इसी प्रकार की बातों से उन्होंने मुझे विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया किन्तु मुझे तो वे सब बातें भी किसी उपन्यासकार के मस्तिष्क की उपज ही प्रतीत हुईं, क्योंकि हृदय कहता था 'पतन की भी एक सीमा होती है!' अन्त में यह बात ठहरी कि दिल्ली आए हुए हैं ही, उग्रजी से मिला जाय और उन्हीं से पूछा जाय कि उन बातों में जिनका वर्णन उन्होंने 'दिल्ली के दलाल' में किया है, कितना सत्य है। हमारे मित्र ज़रा अनमने होकर बोले 'हमारे आचरण तथा विचारों से तो आप भली भाँति परिचित हैं ही। मुझे विश्वास है कि आप उन पर किसी प्रकार सन्देह नहीं करते। हम सायंकाल ये बातें सत्य सिद्ध कर देंगे। अधिक नहीं केवल चार-पाँच रुपये का व्यय है और आशा यह भी है कि उस प्रयत्न से एक महिला कुमार्गगामी से सुमार्गगामी हो जाए।'

सायंकाल को हम दोनों भोजनादि से निवृत्त होकर घूमने जाने की तैयारी कर रहे थे। मैंने अपने मित्र को एक मनुष्य की ओर, जो कि हमारे कमरे की ओर टहल रहा था, घूरते हुए देखा। कुछ देर पश्चात् उन्होंने उसे इशारे से बुला लिया और दोनों में वार्तालाप होने लगा। 'किस विचार में चक्कर लगा रहे थे आप?'

'आजकल बहुत सी नई ताज़ी चीज़ें आई हुई हैं। कहिए तो कोई हुज़ूर की खिदमत में पेश करूँ ?'

'पेशेवर तो चाहिये नहीं।'

'पेशेवर का क्या काम ? ऐसी लीजिए जो आप भी उमर भर याद रक्खें।'

'हाँ, मगर ज़रा……'

'ज़रा क्या ? कोई अठारह उन्नीस के भाव की ?'

'हाँ, इससे अधिक न हो।'

मैं मानों सिनेमा हॉल में बैठा सवाक् चित्रपट देख रहा था। हृदय के उस प्रश्न की तीव्रता आश्चर्य में परिणत होती जा रही थी। हृदय की दृढ़ता में द्वन्द्व पदार्पण कर चुका था और वह कहता था 'क्यों जी क्या मनुष्य के पतन की कोई सीमा नहीं होती ?'

'हाँ तो अगर ये बातें सत्य हैं तो क्या ये सभ्य मानव-समाज में सम्भव हो सकती हैं ?' और इसी समय मैंने देखा कि मित्र ने उसे एक चाबी और दो रुपये देते हुए कहा 'यह चाबी सामने के कमरे की है हम लोग आठ बजे के क़रीब लौटेंगे। फ़िलहाल दो संभालो और फिर बाद में समझ लेना।' और इसके बाद हम दोनों घूमने निकले। हमने अपने मित्र से कहा—'आप तो कह रहे थे कि केवल तीन-चार रुपये व्यय होंगे ?'

'सो तो होंगे ही।' उन्होंने उत्तर दिया।

तो यह 'उन्नीस-बीस' का क्या जिक्र था ! हमने उत्सुकतापूर्वक पूछा 'यार क्यों इतने बना करते हो ?' यही उनका उत्तर था।

लीजिए यह 'उन्नीस-बीस के भाव की' एक जटिल समस्या मेरे सामने उपस्थित हो गई और बनने का ख़िताब भी मिल गया। ख़ैर कुछ भी हो उनका उत्तर ही ऐसा था कि इस विषय में उनसे और कुछ पूछने की मेरी हिम्मत नहीं हुई।

जब हम दोनों घूमकर लौटे तो हमने देखा कि सामने के कमरे में बिजली का प्रकाश है और नीली साड़ी पहने हुए कोई युवती दरवाज़े की ओर पीठ किए हुए बैठी है। वह नज़्ज़ारा देखते ही मैं कुछ देर के लिए 'हम' से 'मैं' हो गया, सर चकराने लगा और सब चीज़ें घूमती हुई-सी नज़र आने लगीं। कमरे के अन्दर जाते ही मैं धम से एक कुर्सी पर बैठ गया। मित्र और आगे बढ़े। उन्होने ज़रा आहिस्ता से कांपते हुए स्वर में कहा 'कौन ?' युवती ने मुँह मित्र की ओर कर लिया। दोनों की आँखें चार हुईं और मित्र के मुँह से चीख़ निकल गई 'शान्ति तुम यहाँ कैसे ?' 'मैं ?' युवती ने कहा 'मुझे एक आदमी ने आकर सूचना दी थी कि आगरे से भैया आए हैं इसलिए, हाँ मैं आपसे मिलने आई हू। कहिए घर पर सब अच्छी तरह से हैं ना ?'

इस समय मित्र पसीने में तर होगये थे और पीपल के पत्ते के समान कांप रहे थे। वे कभी-कभी मेरी ओर देख लेते और फिर दृष्टि को ज़मीन में गड़ाने का प्रयत्न करने लगते। मानो मूक भाषा में माता वसुन्धरा से फट जाने की प्रार्थना कर रहे हों। मित्र ने ज़रा छटपटाते हुए उत्तर दिया 'हाँ सब अच्छी तरह से हैं।'

कुछ देर और बात करने के पश्चात् मित्र ने उसे बड़े भाई के

नाते दो रुपये दिये और बाज़ार से थोड़ी-सी मिठाई मँगाकर टाँगे में उसे उसके घर छोड़ आये। इतनी देर तक मैं संज्ञाहीन-सा कुर्सी पर बैठा, नहीं, वहीं पड़ा रहा। मित्र ने वहाँ से लौटकर ठण्डी साँस लेते हुए मुझे बताया 'इसके पिता का और हमारा घर आगरे में पास-पास ही है। घर पास-पास होने के कारण दोनो कुटुम्बों में बहुत घनिष्टता है और इसीलिये शान्ति मुझे भैया कहकर पुकारती है। पिछले वर्ष ही इसका विवाह हुआ था। इसके पति यहाँ के एक धनाढ्य व्यवसायी हैं किन्तु शराबखोरी तथा वेश्यागमन आदि दुर्व्यसनों ने उनका सर्वनाश कर दिया। मित्र बीच-बीच में इस बात पर भी बहुत ज़ोर देते जाते थे कि शान्ति उनकी बिरादरी की नहीं है। उनकी कुछ भी तो नहीं है।'

इन सब बातों को सुनकर कम-से-कम कुछ देर के लिए तो मैं मानो किसी विचित्र लोक में पहुँच गया। यद्यपि अब हृदय कह रहा था 'क्यों जी जब पुरुषों के पतन से हम परिचित हैं तो स्त्रियों के पतन पर इतना आश्चर्य क्यों?' किन्तु फिर भी कमरे की प्रत्येक वस्तु घूमती हुई नज़र आ रही थी और मेरे कानो में वही शब्द गूंज रहे थे।

'शान्ति तुम यहाँ कहाँ?'

"मैं! मुझे एक आदमी ने सूचना दी थी कि आगरे से भैया आये हैं। इसीलिए आपसे मिलने आई हूं।"

मेरे विचार से तो वह हमारे मित्र की सगी बहिन तो नहीं, किन्तु कोई रिश्तेदार अवश्य थी। वह कोई भी हो इससे मुझे कोई प्रयोजन नहीं, कम-से-कम उस रात को मैं सोच रहा था कि अब मुझे सत्य की

खोज के लिए उग्रजी के पास जाने की आवश्यकता नहीं। और वह उन्नीस-बीस के भाव वाली समस्या ? वह समस्या तो अभी शेष थी ही। किन्तु अगले दिन प्रातःकाल को एक और ऐसी जटिल समस्या उपस्थित हुई कि जीवन पर्यन्त वह सुलझ न सकेगी। अगले दिन वही सज्जन सूर्योदय से भी पहिले ही बड़े सटपटाते हुए आये। हमने सोचा की शायद कल के खर्चे का बिल पेश करने आये हैं। किन्तु उन्होंने आते ही गिड़गिड़ाते हुए कहना आरम्भ कर दिया 'हुज़ूर माफ़ करना, बड़ी ख़ता होगई। मैं ताला खुला तो इस ख़्याल से छोड़ गया था कि पाँच-दस मिनट् में लौट आऊँगा, मगर क्या बताऊँ! हाँ ख़ैर कमरा खुला छूट जाने से नुकसान तो नहीं हुआ ? दरी और दो कुर्सियों के अलावा तो शायद उसमें और कुछ था भी नहीं।' हमने उसकी ज़बान के घोड़े को लगाम लगाने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु वह रुका नहीं। बिना हमारी बात सुने कहता ही गया।' 'हुज़ूर बात यह हो गई थी कि यहाँ से जाते ही मुझे ख़बर मिली कि मेरी बीवी को दौरा पड़ गया। लपका हुआ घर गया तो उसकी हालत बहुत नाज़ुक पायी। बस उसकी तकलीफ़ ने होश-हवास ऐसे फ़ाख़्ता कर दिए, कि यह भी ख़्याल न रहा कि हुज़ूर का ताला खुला छोड़ आया हूं। मुआफ़ करना हुज़ूर इसीलिए कल आपका काम न हो सका, हाँ तो आज सही। आज कोई चीज़ हुज़ूर की ख़िदमत में पेश करूँ ?'

यद्यपि उसकी इन बातों ने हम दोनों को पागल-सा बना दिया था, किन्तु तिस पर भी हमारे मित्र ने सँभलते हुए कहा—'नहीं अब ज़रूरत नहीं।' उसने बहुत आग्रह किया किन्तु मित्र ने ना ही कर दी।

अन्त में वह चावी देकर चला गया। और वे दो रुपये ? न तो मित्र ने वे रुपये माँगे और न स्वयं उसने दिये। रुपयों की उस समय हमें सुध ही कहाँ थी वहाँ तो एक और ही जटिल समस्या उपस्थित हो गई, जिसका सुभलना असम्भव-सा प्रतीत होता है। और उस समय मैंने पाया कि धीमे से स्वर में एक वार फिर हृदय कह रहा है—'पतन की सीमा होनी तो चाहिये ! क्यों जी, क्या पतन की कोई सीमा होती नहीं ?'

उनके सामने रक्खी थी। मेज़ के एक कोने पर टेलीफ़ोन का चोंगा रक्खा था। समीप ही एक स्टूल पर रक्खा बिजली का पंखा चल रहा था। सामने कुर्सी पर बैठा हुआ व्यक्ति अख़बार पढ़ रहा था। वह शायद प्रूफ़-रीडर था।

जब शङ्कर और व्यास वहाँ पहुँचे तो सम्पादक जी ने प्रश्न-सूचक दृष्टि से उनकी ओर देखा 'मेरा नाम व्यास है, मैं कानपूर से आ रहा हूं', व्यास ने कहा।

'आइये' सम्पादक जी ने उत्तर दिया और फिर लेख पढ़ने में लग गये।

वे दोनो कुछ देर तक उसी प्रकार खड़े रहे मानो कुछ और सुनने की प्रतीक्षा में हैं और फिर स्वयम् ही वहाँ रक्खी हुई एक बेंच पर बैठ गये।

दूसरे सज्जन ने कुछ देर बाद कहा 'कहिए आजकल लेख भेजने का नम्बर बहुत देर से लगता है।'

'जी हां आजकल ज़रा ऐसा ही रहता है', व्यास ने उत्तर दिया।

'आप कब लौटेंगे ?' सम्पादक जी ने पूछा। 'एक सप्ताह यहाँ और ठहरूंगा, देखिये अवसर मिला तो आपसे एक बार और भेंट होगी।'

सम्पादक जी ने उत्तर दिया 'हूं'। मानो कह रहे हों इस एक बार की भेंट की भी कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी।

इतने ही में कार का हार्न बाहर बजा। सम्पादक जी ने घड़ी पर दृष्टि डालते हुए प्रूफ़-रीडर ने कहा, 'चार बज गये कार आगई, मैं तो

चल रहा हूं, आप उन दो पत्रों का उत्तर लिखते आइयेगा।' उन्होंने दरवाज़े से लौट कर फिर कहा, 'आप लोगों के लिए लैमन मंगाइये' और कार में बैठ कर चले गए। लगभग आध घंटे के बाद लैमन के दो अद्धे आए। बीच-बीच में प्रूफ़-रीडर साहब एक आध प्रश्न पूछ लेते थे यही, 'आप कानपुर में क्या-क्या करते हैं, यहाँ क्या काम आये।'.

जब वहाँ से लौटे तो देखा शरद के यहाँ एक और प्रसिद्ध लेखक बैठे हैं। उनके वार्तालाप से ज्ञात हुआ कि वे लगभग तीन सौ रु० माहवार केवल क़लम द्वारा कमा रहे हैं। उनके चले जाने के पश्चात् शंकर ने शरद से पूछा 'क्यों साहब पहले तो निस्सन्देह इनकी बहुत सी रचनायें प्रकाशित होती रहती थीं किन्तु अब तो दो-चार महीने में एक आध कहानी ही देखने को मिलती है, फिर ये इतना कैसे कमा लेते हैं?'

'पचास प्रतिशत तो इनके कहने में ग़लती हो सकती है और शेष के लिए यह है कि इनकी रचनायें औरों के नाम से प्रकाशित होती हैं, यही कारण है कि उनके लिए उन्हें अधिक मिल जाता है और दो मासिक पत्रों का सम्पादकीय भी ये लिखते हैं वह भी उन पत्रों के सम्पादकों के नाम से प्रकाशित होता है, कुछ आय उससे हो जाती है।' शङ्कर ने सोचा, 'एक ओर तो ये हैं दूसरी ओर बेचारा शरद, देश-भर के गद्य-लेखकों में अगर पहिला नहीं तो दूसरा स्थान तो उसका है ही। पाठक उसकी रचनायें पढ़ने के लिए उत्सुक ही नहीं बल्कि व्यग्र रहते हैं, फिर भी वह घर का कार्य चलाने में असमर्थ होने के कारण आर्थिक

संकटों से पिंड छुड़ाने के लिए शहर छोड़ कर गाँव में बसने की सोच रहा है।'

यह सब कुछ शङ्कर को अरुचिकर ही लगा, किन्तु फिर भी उसने क़दम पीछे हटाया नहीं और उसने एक दिन प्रसिद्धि प्राप्त कर ली। अपने आरम्भिक जीवन में उसने सोचा था यदि वह लेखक बना तो इस दलदल से अलग ही रहेगा किन्तु अब उसने पाया, मानो कोई प्रबल शक्ति उसे उस दलदल की ओर खींचे लिये जा रही है।

क्या
क
हें

अचानक सतीश की दृष्टि 'हैमलैट' से उठी।

उसने सामने मेज़ पर रखी घड़ी में देखा कि छः बज गए। वह पुस्तक छोड़कर कुर्सी से खड़ा हो गया। उसे चौक जाना था, लेकिन वह पुस्तक पढ़ने में ऐसा व्यस्त रहा कि उसे समय का भी ध्यान न रहा। वह छात्रावास के उस छोटे से कमरे के बाहर आया। उसने ढलते हुए सूर्य की ओर देखा। 'देर अधिक तो नहीं हुई'—उसके ओंठ धीरे से हिले। और वह फिर कमरे में आ गया। खद्दर का एक नीला सा जाँघिया और एक बनियान वह पहने हुए था। फ़ुर्ती से उसने खूंटी पर से खद्दर की एक सफ़ेद धोती और कुरता उतारा, और उन्हें पहिना।

छात्रावास में वह प्रायः नीला जाँघिया और बनियान ही पहन कर रहता है। जब यूनिवर्सिटी या कहीं और उसे जाना होता है, तो वह धोती और कुरता पहिन लेता है। खद्दर की तीन धोतियां, तीन कुर्ते,

दो जाँघिए और दो बनियान—केवल इतने ही पहिनने के कपड़े उसके पास हैं—उन्हीं में वह गुज़र कर लेता है। उसके पास एक ऊनी चादर है जिसे जाड़ों में ओढ़कर वह बाहर जाता है, क्योंकि कोट उसके पास एक भी है नहीं।

कुछ आवश्यक सामान उसे चौक से ख़रीदना था। दो रुपये उसने जेब में डाले और कमरे का ताला बन्द किया।

वह चौक में इक्कों तथा साइकिलों से बचता हुआ सड़क के किनारे-किनारे चला जा रहा था, कि उसने सुना 'बाबू! ज़रा सुनना'। उसने पीछे फिर कर देखा। एक अपरिचित सज्जन उससे कह रहे थे 'हाँ! आप ही। माफ़ कीजियेगा, केवल एक मिनिट, सतीश ने उस व्यक्ति को ग़ौर से देखा, किन्तु वह अपरिचित ही था। सिल्क का कोट तथा सफ़ेद मक्खन-ज़ीन की पैंट वह पहिने हुए था। लाल धारियों वाली नीली टाई उसकी सफ़ेद पापलेन की कमीज़ के सेमिस्टिफ़ कालर में लगी थी।

बातचीत से वह शिक्षित प्रतीत होता था। 'आप यहाँ पढ़ते हैं?' उसने नम्रता से पूछा। 'हाँ.....?' सतीश ने प्रश्न सूचक दृष्टि से उसकी ओर देखते हुए उत्तर दिया।

'आप.....', उसने झिझकते हुए कहा 'आप एक फ़ाउन्टेन-पेन ख़रीदेंगे?'

'फ़ाउन्टेन-पेन!.....नहीं फ़ाउन्टेन-पेन तो मुझे नहीं ख़रीदना है।' और फिर रुककर कुछ आश्चर्य के साथ उसने पूछा, 'क्या आप फ़ाउन्टेन-पेन बेचते हैं?'

'बेचता तो नहीं, परन्तु परिस्थिति ने बेचने के लिए विवश किया है।'

'क्यों.......?' सतीश ने उसके चेहरे की ओर देखा।

'रहने दीजिए। जब आपको ख़रीदना नहीं है, तो यह सब कुछ सुनकर क्या कीजिएगा?' उसने उदासी के साथ उत्तर दिया।

'फिर भी तो? यदि कुछ हानि आप न समझें तो बतायें, बात क्या है?'—उसकी उत्सुकता बढ़ रही थी।

'मैं एक कार्यवश यहाँ बनारस से आया था। काम हो चुका था। आज सायंकाल को वापस जाना था, किन्तु प्रातःकाल किसी ने यहीं जेब काट कर पर्स निकाल लिया।' सतीश की निगाह सहसा उसके कोट की जेब पर पड़ गई। वह कटी हुई थी।

वह कहता गया, 'सब मनी पर्स में थी, एक पाई भी मेरे पास नहीं बची। सुबह से मैं खाना भी नहीं खा पाया हूं और बनारस के लिए क़िराए को भी पैसे चाहिएँ। यहाँ कोई मेरा परिचित भी नहीं है जिससे कुछ उधार मिल सके। एक फ़ाउन्टेन-पेन मेरे पास है; अच्छी क्वालिटि का। सोचा उसे ही बेच दूँगा। इस समय किसी न किसी तरह काम तो होना ही चाहिए।' वह फिर चुप होकर कातर दृष्टि से सतीश की ओर देखने लगा, मानो उत्तर की प्रतीक्षा में हो।

'हूं' सतीश के मुँह से निकला और इसके बाद वह चुप हो गया।

'आप तो उसे नहीं लेंगे न?' उसने निराशा भरे स्वर में पूछा।

सतीश ने कुरते की जेब में हाथ डाल कर उसमें पड़े उन दो

रुपयों को टटोला। पीछे गर्दन मोड़कर दृष्टि एक दूकान पर डाली और फिर धीरे से कहा—'नहीं।'

'अच्छा माफ़ कीजिएगा ?' उस व्यक्ति ने कहा और वह पीछे लौट गया। सतीश चुपचाप वहीं खड़ा कुछ देर सोचता रहा। फिर सहसा वे दो रुपये उसने जेब से बाहर निकाले और वह उसी ओर लपका। वह आदमी इतनी देर में काफ़ी दूर पहुँच गया था। 'ज़रा ठहरना', उसने ज़ोर से पुकारा। फिर वह और तेज़ लपका। आगे बढ़कर उसने देखा, वह व्यक्ति ठहरा हुआ है।

'कितने में आपका काम चल जाएगा ?' सतीश ने पूछा। 'डेढ़ रुपए में', उस व्यक्ति ने जेब से फ़ाउन्टेन-पेन निकालते हुए कहा, 'देखो! यह फ़ाउन्टेन-पेन है, सोने के निब का। केवल दो महीने पहले मैंने इसे ढाई रुपए में ख़रीदा था।'

सतीश ने पेन उससे लिया। इस समय दिन छिप चुका था। सड़क पर लगे बिजली के प्रकाश में उसने उस पर 'मेकर' पढ़ने का प्रयत्न किया। कुछ नया-सा नाम था। उससे वह परिचित नहीं था। उसने देखा, निब सुनहरा है; अधिक घिसा हुआ भी नहीं, फिर गम्भीर होकर वह कुछ सोचने लगा।

'किसी प्रकार का संकोच आप न करें। यदि आप इसे ख़रीद लेंगे तो मैं अपने आपको आप का आभारी मानूंगा।'

सतीश ने फिर एक बार गर्दन फेर कर पीछे एक दूकान की ओर देखा और फिर सम्मुख खड़े उस व्यक्ति के चिन्तित चेहरे की ओर।

'अच्छा मैं इसे ले लूंगा' उसने कहा। और पास की दूकान पर एक रुपया भुना कर उसे डेढ़ रुपया दे दिया।

इसके बाद वह छात्रावास वापिस आ गया, वह प्रसन्न था।

× × ×

अगले दिन छात्रावास में देश की दशा पर बहस छिड़ गई और बीच ही में बेकारी की वजह से बढ़ती हुई डकैती, चोरी, पाकिट-कटिंग का विषय फूट पड़ा। सतीश जोश के साथ कह रहा था, 'ख़राबियों की वजह से शरीफ़ आदमियों का जीना कठिन हो गया है। अभी कल बनारस के एक सज्जन को, जिनकी यहाँ जेब काट ली गई थी टिकट के लिए अपना फ़ाउन्टेन-पेन बेचना पड़ा......'

'आपने ख़रीदा है?' राजेन्द्र ने बीच ही में बात काट कर पूछा।

'हाँ......' सतीश ने झिझकते हुए उत्तर दिया। 'मैं उन्हें बिना पेन लिए भी रुपए दे देता, पर मुझे लगा कि वे ऐसे न लेंगे।'

'वे सज्जन सूटबूट टाई में थे?' राजेन्द्र ने दूसरा प्रश्न किया।

'हाँ।'

'पेन कितने का लिया?'

'डेढ़ रुपए का।'

तभी राजेन्द्र ने अपने कोट की अन्दर की जेब से एक पेन निकाल कर सतीश को देते हुए कहा, 'देखना कहीं ऐसा ही तो नहीं है—वह पेन?'

सतीश ने पेन को खोलकर उसका निब आदि अच्छी तरह देख कर उत्सुकता के साथ उत्तर दिया, 'हाँ ऐसा ही है।'

'मैंने भी यह पेन उन्हीं जेब-कटे सूटबूट धारी सज्जन से पौने दो रुपए में ख़रीदा था।' राजेन्द्र ने कहना शुरू किया, 'एक दुकान पर दिखाने से मालूम हुआ कि यह जापानी पेन है, और अभी नया ही चला है। इसकी क़ीमत छै आने है। मुझे यूनिवर्सिटी के दो लड़के और भी मिले थे जिन्होंने उन्हीं सजन से इसी प्रकार के पेन ख़रीदे हैं।'

इसके बाद सतीश ने अनुभव किया कि उसका मस्तिष्क बड़ा चिंतित और परेशान सा है। क्या वह इसलिए चिंतित और परेशान था कि उसने छै आने के पेन के लिए डेढ़ रुपया दे दिया? वह सोच रहा था कि वह इस घटना को डकैती, चोरी अथवा पाकेट-कटिंग, क्या कहें!

स्व
तं
त्र
ता
की
ब
लि
वे
दी
प
र

'उफ़ इतना अन्तर' जैस्मिन के मुँह से सहसा निकल गया। उसके हृदय की गति अति तीव्र हो गई थी। उसने एक बार फिर उस अख़बार में केन्ट के समाचार पढ़े ।

केन्ट—

'कल प्रातःकाल सड़क के किनारे दो लाशें पड़ी हुई मिलीं। सम्भवतः रात का जाड़ा उन्हें काल बन कर निगल गया।'

'एक ग्रेजुएट ने आत्म-हत्या कर ली। खोज करने से ज्ञात हुआ कि आत्म-हत्या का कारण उसकी 'आर्थिक' अवस्था थी।'

'डाकू विलियम को सरकारी ख़ज़ाने पर छापा मारने के अपराध में प्राणदण्ड मिला।'

जैस्मिन के हृदय-सागर में एक तूफ़ान सा उठ गया। उसका सारा शरीर पीपल के पत्ते के समान काँपने लगा। उसने उद्विग्न स्वर में कहा, "निर्धनता के कारण प्राण त्यागने पड़े?" उस बगीचे के पत्ते-पत्ते ने उत्तर दिया "हाँ, निर्धनता के कारण ही प्राण त्यागने पड़े!" शीतल पवन के मन्द झोंकों ने उत्तर दिया "हाँ निर्धनता के कारण ही प्राण त्यागने पड़े!"

जैस्मिन सोचने लगा 'वही विलियम जिसने अपने पैतृक-गृह के स्वर्ग-सम सुख को लात मारी जन्मभूमि के पैरों से परतन्त्रता की बेड़ी काटने में सहायता देने के लिए, वही विलियम जो निःस्वार्थभाव से तालावों, झीलों तथा सागरों से जल हरण कर असंख्य ऊसर स्थलों तक पहुंचाता और उन्हें सींचता मातृभूमि के स्वातन्त्र्य-बीज की एक हरी कोंपल निकली हुई देखने की आशा से, वही विलियम जिसने अपने प्राणों तक का वलिदान कर दिया औरों के लिए, मातृभूमि की दशा सुधारने के लिए, डाकू कहलाया?' जैस्मिन के रोम-रोम से चिनगारियाँ सी निकलने लगीं।

विलियम जैस्मिन का बाल्यकालीन मित्र था। विलियम के पिता बड़े धनाढ्य व्यक्ति थे, किन्तु उसे राजनैतिक कार्य में भाग लेने के कारण घर त्याग देना पड़ा था। उसकी आयु इस समय भी पच्चीस-

तीस वर्ष से अधिक न थी। जैस्मिन के नेत्रों के सामने उस सुन्दर, सुडौल, तथा हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति का चित्र नाचने लगा।

× × ×

जैस्मिन केन्ट के सबसे बड़े धनाढ्य व्यक्ति का इकलौता पुत्र था। उसके पिता की इच्छा थी कि वह एक दिन केन्ट का गवर्नर बने। रोमन राज्य काल में, केन्ट के मनुष्य का केन्ट का गवर्नर बनने का प्रयत्न, पहाड़ पर कुँवा खोद कर जल प्राप्त करने के प्रयत्न के समान था। किन्तु आशा बड़ी शक्तिशाली होती है। पहाड़ पर कुँआ खोद कर जल प्राप्त करना कठिन अवश्य है किन्तु असम्भव नहीं। जैस्मिन के पिता उसकी माता को उसके जन्म लेने से पूर्व ही साथ लेकर रोम चले गये थे, जिससे उनकी सन्तान को वही अधिकार प्राप्त हो सकें जो रोम के एक मनुष्य को प्राप्त होते हैं। उन्होंने जैस्मिन की शिक्षा का प्रबन्ध भी रोम के राजकुमार के साथ रोम में ही कर दिया था। जैस्मिन बड़े लाड़-चाव से पाला गया था। उसका रहन-सहन आचार-विचार, व्यवहार सब परिस्थिति अनुकूल ही थे। वह एक ड्रेस को कभी एक बार से अधिक न पहिनता। उसका अधिकांश जीवन रोम में ही बीता था। केन्ट आने पर भी उसके सूट सदा रोम से तैयार होकर आते। केन्ट के मनुष्यों के प्रति उसके हृदय में घृणा का भाव था। वह उन्हें मूर्ख तथा असभ्य समझता था।

रोम में राजप्रासाद के समीप ही उसका भी बंगला था। वहीं सायंकाल के समय अपने बगीचे में आरामकुर्सी पर बैठ कर वह

समाचार-पत्र पढ़ा करता था। आज के समाचार-पत्र में प्रकाशित उसकी मातृभूमि 'केन्ट' के समाचारों ने उसके जीवन में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। वह रोम में खेल-तमाशे तथा अन्य दुर्व्यसनों पर व्यय किये जाने वाली अनन्त धन-राशि पर विचार करने लगा। बहुत देर तक वह गम्भीर विचारों में गोते लगाता रहा। सहसा उसके मुख-मण्डल पर लालिमा की रेखा दौड़ गई। उसने सोचा—

"नहीं, यह कभी नहीं हो सकता। मेरे असंख्य भाई शीत के कारण, पेट भरने में असमर्थ होने के कारण, मृत्यु की शरण लें और मैं विदेश में पड़ा अनन्त धन-राशि व्यय कर चैन की बंशी बजाऊँ।" वह सोचता गया 'विलियम ने एक पवित्र तथा सराहनीय उद्देश्य को लेकर अपनी यौवनावस्था में पदार्पण किया था। उसने मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिए अपने प्राणों का बलिदान कर दिया। जो कार्य वह अपने जीवन में पूर्ण न कर सका उसे पूर्ण करने का मैं प्रयत्न करूँगा।" वह शीघ्रता से उठ कर अपने बँगले की ओर चल दिया।

अगले दिन लोगों को ज्ञात हुआ कि जैस्मिन रोम से केन्ट के लिए प्रस्थान कर चुका है।

× × ×

जैस्मिन के पिता एक बड़े राज्य कर्मचारी थे। वे रोमन गवर्नमेन्ट की दमन नीति में पूरा हाथ बटा रहे थे। देश में सुलगी हुई क्रान्ति ज्वाला को शान्त करने के लिए जनता में रोमन गवर्नमेन्ट के पक्ष में

व्याख्यान देते तथा लोगो को नवीन क्रान्ति की हानियाँ बतलाते। अब वे जब व्याख्यान में सरकार के पक्ष या नवीन क्रान्ति के विपक्ष में कहते तो शेम-शेम की ध्वनि से सभा गूंज उठती। वे जैस्मिन के विचारों से परिचित हो चुके थे। उन्हें निश्चय हो गया था कि जैस्मिन के अतिरिक्त सभा में उनके विरुद्ध आवाज़ कसने का साहस और किसी में नहीं हो सकता। वे सदा अपने इकलौते बेटे के नवीन विचारों के कारण चिन्तित रहते। बहुत काल तक पिता-पुत्र में द्वन्द्व होता रहा और जैस्मिन के पिता का हृदय बना रहा पुत्र-स्नेह तथा राजसम्मान के लोभ का रणक्षेत्र। अन्त में पुत्रस्नेह की विजय हुई और रँग पलटने लगे जैस्मिनके पिता के भी विचार। हाँ कुछ ही काल में इस कुटुम्ब के प्रत्येक प्राणी के शरीर पर विदेशी क़ीमती वस्त्र के स्थान पर सादा स्वदेशी वस्त्र दृष्टिगोचर होने लगा। केन्ट के सबसे बड़े धनाढ्य व्यक्ति का सहयोग प्राप्त हो जाने से स्वराज्य दल में नवजीवन का संचार हो गया। विदेशी वस्तुओ का बहिष्कार, स्वदेशी वस्तुओ का प्रचार, सरकार के कामों में हस्तक्षेप आदि कार्य बड़े ज़ोर-शोर के साथ होने लगे। जैस्मिन सार्वदेशिक स्वराज्य दल के प्रजीडेण्ट बनाये गये। अब तो इस दल की आर्थिक स्थिति का प्रश्न भी हल हो गया। जैस्मिन ने अपनी करोड़ों की संपत्ति तथा रहने का भवन तक दल को दान कर दिया था। एक बार केन्ट में रोमन राज्य का नींव हिल गई।

गवर्नमेन्ट की दशा दिन प्रतिदिन शोचनीय होती गई। अन्त में उसने अपना नीति-मार्ग बदला। दल का प्रत्येक नेता गिरफ़तार कर

लिया गया। केन्ट में सब जेलखाने राजनैतिक कैदियों से ठसाठस भर गये। जैस्मिन को भी तीन वर्ष की सज़ा हो गई। मखमल के गद्दों पर पला हुआ जैस्मिन, हाँ, वह पच्चीस वर्ष का वीर युवक जेल में जीवन व्यतीत करने लगा। जैस्मिन के जेल जाने के पश्चात् स्वराज्य दल का काम शिथिल सा पड़ता गया और कुछ ही काल पश्चात् केन्ट में प्रायः पूर्ण शांति हो गई।

तीन वर्ष बाद—

जैस्मिन के छूटने की तिथि ज्यों-ज्यों निकट आ रही थी, केन्ट के गवर्नर का चिन्ता-पयोधि गहरा होता जा रहा था। उसे ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानों एक भूखा सिंह उसके ऊपर छलाँग मारने को ताक रहा हो। वह सोचता था कि जैस्मिन के छूटते ही फिर देश में वही भीषण ज्वाला प्रज्वलित होगी। पिछले मूवमेन्ट में रोमन सरकार ने उसे प्रतिकूल परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने में असमर्थ बताकर पदच्युत करने की धमकी दी थी। उन दिनों के चित्र उसकी आँखों के सामने नाचते रहते। अब फिर उसी सूखे घास पर चिंगारी पड़ने वाली थी: जैस्मिन केवल एक सप्ताह में छूटने वाला था। आज केन्ट के गवर्नर ने जेल सुपरिंटेंडेंट के पास संदेश भेजा और सुख की साँस ली।

× × ×

जैस्मिन का जी जब से उसने भोजन किया मितला रहा है। दिन भर घुमेर सी आती रही। अब तो सिर भी चकराने लगा। कमरे की प्रत्येक वस्तु घूमती सी प्रतीत होने लगी। उन्हें अब ज्ञात हुआ कि

तःकाल उन्हें भोजन में विष दे दिया गया है। 'उफ़ मनुष्य अपने ार्थ के लिए इतना घृणित कार्य तक कर सकता है?' उनके मुँह से हसा निकल गया।

सायंकाल हो गया था। सूर्य भगवान् अस्ताचल के निकट पहुँच ये थे। जेस्मिन का जीवन-सूर्य भी अनन्त में विलीन होना ही चाहता था। जेस्मिन सींकचोदार छोटी सी कोठरी में एक चटाई पर लेटे हुए थे। उनका गला सूख गया था। उन्होंने कई बार कहा पानी'। केवल उन्हीं के शब्दों की प्रतिध्वनि उन्हें सुनाई दी 'पानी'।

आज उन्हें जो केन्ट में रहते हुए भी खाने के लिए फल रोम से मँगाया करते थे, दो बूंद पानी के लिए भी निराश होना पड़ा। उनके साँस की गति धीमी पड़ती जा रही थी। उन्होंने बड़ी कठिनाई से कहा "माँ मैं तुझे परतन्त्रता की बेड़ियो में छोड़कर स्वयं सदैव के लिए स्वतन्त्र होने जा रहा हूं। मुझे ''क्षमा''करना। भगवान्''''' तेरा'''''कल्याण'''''।" और अपने जीवन की अंतिम साँस ली।

× × ×

रोमन सरकार ने उस महान् आत्मा का, उस स्वतंत्रता की बलि-वेदी पर प्राण न्योछावर करने वाले वीर का, शव भी जनता को नहीं दिया। किन्तु फिर भी जेस्मिन पर किये गये अत्याचार की सूचना जनता को मिल गई। केन्ट के मनुष्यो का रक्त प्रतिशोध की अग्नि से खौलने लगा। केन्ट का चप्पा-चप्पा रणस्थली में परिणत हो गया। जेस्मिन के प्राणों की आहुति से केन्ट में वह ज्वाला प्रज्वलित हुई

जिसने थोड़े ही समय में केन्ट के पैरों में चिरकाल से पड़ी हुई परतन्त्रता की बेड़ियों को नष्ट कर दिया। केन्ट सदैव के लिए स्वतन्त्र हो गया।

× × ×

केन्ट में संगमर्मर का एक विशाल स्तम्भ है। उस पर अंकित है—"स्वतन्त्रता की बलिवेदि पर प्राणों की भेंट चढ़ाने वाले अमर शहीद 'जैस्मिन' की स्मृति में यह विशाल स्तम्भ बनाया गया।" स्तम्भ के ऊपर जैस्मिन की एक विशाल मूर्ति बनी हुई है। केन्ट में प्रति वर्ष एक मेला लगता है। उस दिन केन्ट की सारी जनता बच्चे, बूढ़े, औरत, सब उस महान् आत्मा की प्रतिमा की पूजा के लिए एकत्रित होते हैं और वहाँ राष्ट्रीय झण्डे के नीचे खड़े हो कर एक स्वर में गाते हैं :—

शहीदों की चिताओं पर,
जुटेंगे हर बरस मेले।
वतन पर मिटने वालों का,
यही बाकी निशाँ होगा॥

दो आँसू

"राजकुमार, तुम भूल रहे हो, कहाँ तो विजयगढ़ का भावी नरेश और कहाँ एक निर्धन राजपूत-कन्या !"

"नहीं विभा, भूल कैसी ! शुद्ध प्रेम के मार्ग में न तो धन दो व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बांधने के लिए बंधन ही हो सकता है और न दोनों को अलग रखने के लिए कंटक ही।"

"किन्तु तुम्हें तो एक से एक रूपवती राजकन्यायें प्राप्त हो सकती हैं।"

"विभा ! भोली विभा ! शुद्ध-प्रेम के लिए सौन्दर्य जैसी अस्थायी वस्तुयें आकर्षक नहीं होतीं ! उसमें इन्द्रियजन्य सुखों की लालसा नहीं होती !! उसका संबंध हृदय से होता है विभा, और आत्मा से। वह धन से ख़रीदी जा सकने और रूप से बदली जा सकने वाली वस्तु नहीं।"

"राजकुमार ! तुम किस निद्रा में हो ? महाराज को यह कैसे स्वीकार हो सकता है कि विजयगढ़ के भावी नरेश की सहचरी एक निर्धन राजपूत कन्या बने ?"

"अगर कोई भावी विजयगढ़ नरेश हो, तब तो निस्संदेह अड़चन हो सकती है।"

"कैसी विचित्र बातें कर रहे हो राजकुमार ? क्या तुम एक निर्धन राजपूत कन्या के लिए राज्य-सुख को लात मार दोगे ?"

"सुख ! राज्य-सुख ? तुम कितनी भोली हो विभा ! सुख तो हृदय की शांति का नाम है। वह राजसिंहासन का दास नहीं, और मुझे ज्ञात है कि उस सुख के लिये जिसे तुम सुख कहती हो—तुमही क्या सारा संसार ही सुख कहता है, छोटा भाई अधिक इच्छुक है। मेरा राजसिंहासन तो तुम्हारा हृदय है विभा ! यदि मुझे इस पर स्थान मिल गया तो किसी और राजसिंहासन की लालसा न रहेगी।"

विभा ने अपने चंचल तथा सुन्दर नेत्रों से राजकुमार की ओर देखा। उसकी दृष्टि में विस्मय था और स्नेह भी। राजकुमार ने भी अपने बड़े-बड़े नेत्र विभा की ओर फिराये, उसकी दृष्टि में सुखद शांति थी और अटल विश्वास भी। और क्षण भर बाद ही दोनों एक दूसरे के बाहुपाश में बंध गये।

उस समय सूर्य भगवान् जो तीव्र गति से अस्ताचल की ओर पदार्पण कर रहे थे, यह प्रेम-क्रीड़ा देखने के लिए क्षण भर को ठिठक गये। सायंकालीन मंद पवन पुष्पों की सुगंधि को चारों ओर फैला

रहा था और उस रम्य वाटिका के पत्ते-पत्ते को कर रहा था वही अलौकिक संगीत सुनाने को प्रेरित।

इसी समय किसी मधुर कंठ की ध्वनि सुनाई दी 'चोली चाहिये चोली !' और एक युवती, जिसकी आयु लगभग बाईस वर्ष की होगी, उस ओर से आती हुई दिखाई दी। यद्यपि उसके वस्त्र फटे हुए थे, मुरझाये पुष्प जैसे चेहरे पर चिन्ता के बादल स्पष्ट दृष्टिगोचर होते थे, फिर भी देखने से जान पड़ता था कि वह भी कभी किसी रम्य वाटिका की कली रही होगी। विभा ने उसे बुलाया और चोली देखी। चोली देखते ही राजकुमार और विभा के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। संभवतः राजकुमार ने भी अपने जीवन में पहले कभी इतनी सुन्दर चोली नहीं देखी थी। वह रेशम के डोरों से बुनी हुई थी और उस पर सलमे सितारे और सच्चे मोतियों का काम था। उसे देखने से ज्ञात होता था कि कम से कम किसी की तीन-चार साल की मेहनत का फल है।

विभा ने उसका मूल्य पूछा। चोली वाली ने दो हज़ार रुपया बताया। राजकुमार ने उसी समय चोली का मूल्य मँगवा दिया। जिस समय चोली वाली ने चोली विभा को दी और उसके मूल्य को चौकस अपनी उस फटी सी धोती के एक कोने में बाँधा तो उसके रोकने का लाख प्रयत्न करने पर भी उसके मुरझाये हुये कमल के समान नेत्रों से निकल ही पड़े दो आँसू।

विभा ने सहसा कहा—"अरे तुम रो रही हो ! जितना मूल्य तुमने माँगा, तुम्हें दे दिया। फिर रोने का क्या कारण ?"

उसने बात टालने का लाख प्रयत्न किया, किन्तु विभा और राजकुमार के आग्रह पर उसे अपनी रामकहानी कहनी ही पड़ी। उसने कहना आरम्भ किया।

"अब से लगभग दस वर्ष पूर्व की बात है कि हमारे गाँव में भयंकर प्लेग का प्रकोप हुआ, उस समय हमारे कुटुम्ब में केवल तीन प्राणी थे। मैं, मेरी माता और पिता। एक दिन माता जी के अचानक गिल्टी निकल आई। तीसरे दिन उनका स्वर्गवास होगया, और क्रूर प्लेग का आक्रमण हुआ पिताजी पर भी। मेरी आयु उस समय बारह वर्ष की होगी। यद्यपि उस समय मुझे दौड़-धूप, दवा-दारू का ज्ञान न था और घर में कोई तीसरा प्राणी भी न था फिर भी पिताजी के एक मित्र की कृपा से उनकी सेवा-शुश्रूषा में कुछ भी कमी न आई। वे हमारे घर के समीप ही रहते थे। उनके कुटुम्ब में केवल दो प्राणी थे। वे स्वयं और एक उनका चौदह पन्द्रह वर्ष का पुत्र। ये दोनों तीन दिन तक हमारे ही यहाँ रहे। रात भर पिता जी के समीप बैठे रहते। तीन दिन तक सोने का नाम भी न लिया। चौथे दिन पिता जी की तबियत अधिक खराब हो गई। वे अपने मित्र से, जो उनके समीप बैठे हुए थे, बातचीत कर रहे थे। मैंने देखा कि उस समय दोनों की आँखों से आँसुओं की झड़ी लगी हुई थी। मैं भीतर बैठी उनकी बातें सुन रही थी और रो भी रही थी, उनकी बातों का महत्व समझ कर नहीं, बल्कि उन दोनों को रोता हुआ देख कर। पिताजी कह रहे थे "मुझे अपने मरने की चिन्ता नहीं, यह तो संसार का नियम ही है, जो आया सो जायगा अवश्य, दो दिन पहले या

दो दिन बाद। मुझे तो चिन्ता बच्ची की है। अगर उसका विवाह हो लिया होता तो मैं बड़ी शांति से मरता। उसके भविष्य के सहारे तुम ही हो मनोहर। देखो उसका ख्याल रखना।" और कहते-कहते उनका कंठ रुँध गया, वे आगे कुछ न कह सके।

"आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें आपकी बच्ची को आपके पीछे किसी प्रकार का कष्ट न होगा, मैं उसे अपनी पुत्री की तरह रखूंगा और कोई सुयोग्यवर ढूंढकर उस का विवाह भी कर दूँगा।" मनोहर ने उत्तर दिया।

पिता जी ने आवाज़ दी 'बच्ची' मैं उनके समीप गई। उन्होंने मेरा हाथ अपने मित्र के हाथ में पकड़ाते हुए कहा "देखो बच्ची आज से इन्हीं को अपना पिता समझना और इन्हीं की आज्ञा में रहना। ईश्वर तुम्हें सुखी·····र···।"

और इसके पश्चात् वही हुआ जो इस पृथ्वी मंच पर होने वाले नाटक के सूत्रधार की इच्छा थी! मेरे प्रिय पिता जिन्होंने मुझे नेत्रों की पुतली की तरह रक्खा था, जिनके कारण मुझे माता जी की मृत्यु का भी अधिक दुःख न हुआ था, मुझसे सदा के लिए अलग हो गये!

इसके पश्चात् मैं उन्हीं के यहाँ रहने लगी। वहाँ मुझे किसी प्रकार का कष्ट न था, हाँ माता जी तथा पिता जी की स्मृति कभी-कभी चित्त को अवश्य विचलित कर देती थी। जब मनोहर मेरे आँखों में आँसुओं की झलक भी देख लेते तो मुझे बड़े स्नेह से अपनी गोदी में बिठाते। मेरे दुःख का कारण पूछते, मुझे समझाते और मेरा दिल

उसने बात टालने का लाख प्रयत्न किया, किन्तु विभा और राजकुमार के आग्रह पर उसे अपनी रामकहानी कहनी ही पड़ी। उसने कहना आरम्भ किया।

"अब से लगभग दस वर्ष पूर्व की बात है कि हमारे गाँव में भयंकर प्लेग का प्रकोप हुआ, उस समय हमारे कुटुम्ब में केवल तीन प्राणी थे। मैं, मेरी माता और पिता। एक दिन माता जी के अचानक गिल्टी निकल आई। तीसरे दिन उनका स्वर्गवास होगया, और क्रूर प्लेग का आक्रमण हुआ पिताजी पर भी। मेरी आयु उस समय बारह वर्ष की होगी। यद्यपि उस समय मुझे दौड़-धूप, दवा-दारू का ज्ञान न था और घर में कोई तीसरा प्राणी भी न था फिर भी पिताजी के एक मित्र की कृपा से उनकी सेवा-शुश्रूषा में कुछ भी कमी न आई। वे हमारे घर के समीप ही रहते थे। उनके कुटुम्ब में केवल दो प्राणी थे। वे स्वयं और एक उनका चौदह पन्द्रह वर्ष का पुत्र। ये दोनों तीन दिन तक हमारे ही यहाँ रहे। रात भर पिता जी के समीप बैठे रहते। तीन दिन तक सोने का नाम भी न लिया। चौथे दिन पिता जी की तबियत अधिक खराब हो गई। वे अपने मित्र से, जो उनके समीप बैठे हुए थे, बातचीत कर रहे थे। मैंने देखा कि उस समय दोनों की आँखों से आँसुओं की झड़ी लगी हुई थी। मैं भीतर बैठी उनकी बातें सुन रही थी और रो भी रही थी, उनकी बातों का मतलब समझ कर नहीं, बल्कि उन दोनों को रोता हुआ देख कर। पिताजी कह रहे थे "मुझे अपने मरने की चिन्ता नहीं, यह तो संसार का नियम ही है, जो आया सो जायगा अवश्य, दो दिन पहले या

दो दिन वाद। मुझे तो चिन्ता ऽच्ची की है। अगर उसकां विवाह हो लिया होता तो मैं बड़ी शांति से मरता। उसके भविष्य के सहारे तुम ही हो मनोहर। देखो उसका ख्याल रखना।" और कहते-कहते उनका कंठ रुँध गया, वे आगे कुछ न कह सके।

"आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें आपकी वच्ची को आपके पीछे किसी प्रकार का कष्ट न होगा, मैं उसे अपनी पुत्री की तरह रखूंगा और कोई सुयोग्यवर ढूंढकर उस का विवाह भी कर दूँगा।" मनोहर ने उत्तर दिया।

पिता जी ने आवाज़ दी 'वच्ची' मैं उनके समीप गई। उन्होंने मेरा हाथ अपने मित्र के हाथ में पकड़ाते हुए कहा "देखो वच्ची आज से इन्हीं को अपना पिता समझना और इन्हीं की आज्ञा में रहना। ईश्वर तुम्हें सुखी.....र...।"

और इसके पश्चात् वही हुआ जो इस पृथ्वी मंच पर होने वाले नाटक के सूत्रधार की इच्छा थी! मेरे प्रिय पिता जिन्होने मुझे नेत्रों की पुतली की तरह रक्खा था, जिनके कारण मुझे माता जी की मृत्यु का भी अधिक दुःख न हुआ था, मुझसे सदा के लिए अलग हो गये!

इसके पश्चात् मैं उन्हीं के यहाँ रहने लगी। वहाँ मुझे किसी प्रकार का कष्ट न था, हाँ माता जी तथा पिता जी की स्मृति कभी-कभी चित्त को अवश्य विचलित कर देती थी। जब मनोहर मेरे आँखो में आँसुओं की झलक भी देख लेते तो मुझे बड़े स्नेह से अपनी गोदी में विठाते। मेरे दुःख का कारण पूछते, मुझे समझाते और मेरा दिल

मुझे 'यहाँ पर एक सात सौ रु० माहवार की नौकरी मिल गई है। तुम जानती हो कि वहाँ पर रहते हुए जीविका उपार्जन का प्रश्न कितना कठिन है। घर में इतना धन नहीं कि चैन से बैठ कर खा पहिन सकें। ऐसी अवस्था में मैं नौकरी छोड़ कर आना उचित नहीं समझता। हाँ, दो वर्ष कार्य करने के पश्चात् छः महीने की छुट्टी मिल जायगी, तब आकर तुम्हें भी ले जाऊँगा। तुम किसी प्रकार की चिन्ता मत करना। तुम्हारे लिए यहाँ से बराबर खर्च भेजता रहा करूँगा। पत्र डालने में विलम्ब न किया करो।

तुम्हारा

नरेन्द्र

वे बराबर मेरे पास दो सौ रु० महावार भेजते रहे, यद्यपि मैंने कई बार लिखा भी कि मेरे पास इतने रुपये भेजने की आवश्यकता नहीं। पचास भी आवश्यकता से अधिक हैं। आपको वहाँ मेरे कारण स्वयं कष्ट न सहने चाहियें। किन्तु वे सदा लिख देते थे 'इन बातों की चिन्ता न किया करो। मैं चाहता हूँ सरोज, तुम्हें वहाँ किसी प्रकार का कष्ट न हो। तुम्हारे सुख में ही मेरा सुख है।' शायद उन्हें ज्ञात न था कि रुपये से मेरा कष्ट दूर नहीं हो सकता !

उस मरु भूमि में भी एक उद्यान था, वह था उस चोली का बुनना ! जब मैं एकान्त में बैठी इस चोली को बुनती होती तो प्रायः मेरे कानों में उनके ये शब्द गूंजा करते—'जब तक मैं आऊँगा इसे पूरी कर लेना, फिर इसे अपनी शादी में पहिनना।'

'शादी ! शादी फिर से आग !'

'क्या यह भी वताना पड़ेगा !'

और इसके वाद ! आह ! वह स्मृति-मात्र मुझ में नवजीवन का संचार कर देती और कर देती मेरे हृदय प्रदेश में टिमटिमाते हुए आशा दीपक के लिए घी का काम। जब चोली पूरी हो गई तो मैंने उसे सलमें सितारों से सजाना आरम्भ किया, किन्तु एक दिन वह कार्य भी समाप्त हो गया। अब मैंने चोली को सच्चे मोतियों से सजाना आरम्भ किया और इसी खेल में दो वर्ष व्यतीत हो गये, और एक दिन वह मुझे मिल ही गया, जिसकी मैं दिन-रात प्रतीक्षा कर रही थी। वह था उनका पत्र, जिसमें उन्होंने लिखा था— ।

'मेरी सरोज ! तुम्हें देखने के लिए मेरा मन कितना व्यग्र है यह वताने के लिए मेरे पास शब्द नहीं। मैंने घर को यात्रा आरम्भ कर दी है आशा है तीन महीने में तुम्हारे पास आ जाऊँगा.....।"

मैंने तीन महीने तारे-गिन-गिन कर काटे। किन्तु उस निष्ठुर विधाता को मुझे इतना दुख देने के पश्चात् सुखी देखना स्वीकार न था। मुझे सूचना मिली कि जिस जहाज़ में वे आ रहे थे वह जहाज़ भूमध्यसागर में तूफ़ान आ जाने के कारण इटली के समीप डूब गया। और उस जहाज़ के साथ ही समुद्र में अन्तर्धान हो गया मेरी आशाओ का आधार, मेरे दुखी-जीवन का एक मात्र साथी—हाँ वह मेरे जीवन का सहारा भी।"

उसका कंठ रुँध गया था। उसने बड़ी कठिनाई से कहा—"बहुत रो चुकी वहिन ! हृदय का रक्त भी आँसुओं के रूप में वहा चुकी ! अव इन निष्ठुर आँखो के लिए और आँसू कहां से लाऊँ ?" और

चल दी। विभा ने पूछा "अब क्या विचार है बहिन ?" उसने जाते जाते कहा था "विचार ? मनुष्य के विचार से क्या होता है बहिन ! वही होगा जो उसे स्वीकार होगा !"

× × × ×

लगभग चार महीने के बाद लोगों ने अख़बार में पढ़ा—

विचित्र घटना

एक यूरोप जाती हुई युवा स्त्री ने, जब जहाज़ भूमध्य सागर को पार कर रहा था, इटली के समीप जहाज़ से समुद्र में कूद कर प्राण त्याग दिये। बहुत खोज की किन्तु उसकी आत्महत्या का कारण ज्ञात न हुआ।

कारण ? उसकी आत्महत्या का कारण वही निष्ठुर सागर जानता है, जिसके अनन्त आँचल में उसने शरण ली !

दैवी आपत्ति या मानवी

"अब और दुःख सहन करने की शक्ति नहीं रही, भगवान दया-कर" रामदीन ने नेत्रों से आँसू पोंछते हुये कहा। रामदीन एक निर्धन कृषक था। वह सदा से लक्ष्मी का कोप पात्र रहा। निश्चिंत बैठकर अन्न के दो ग्रास खानें का उसे कभी सौभाग्य प्राप्त न हुआ। माता-पिता तो बचपन में ही उसे इस संसार में इकला छोड़ चल बसे थे। उसकी पत्नी ने भी उसके मनोरंजनार्थ एक नन्हा सा सजीव खिलौना तैयार कर इस नश्वर जगत से विदा ली। रामदीन ने उस पुत्र को अंडे की भाँति सेया। बड़ी कठिनाई से पालपोष कर पाँच वर्ष का किया। वही अब दो सप्ताह से ज्वर से पीड़ित था। रामदीन

ने उसका नाम रक्खा था 'चाँद', क्योंकि उसके लिए अब वही शान्ति-प्रदायक प्रकाश की किरणें, तथा मनोरंजन का केन्द्र था। रामदीन प्रतिदिन प्रातःकाल, चाँद को निद्रादेवी की गोद से छुटकारा मिलने के पूर्व ही, उठकर भोजन बना लिया करता और उसके जागने पर उसे साथ ले खेत चला जाया करता। रामदीन दिन भर खेत में काम करता और चाँद मिट्टी में खेलता रहता। वहीं पिता-पुत्र दोनों भोजन कर लेते। सूर्यास्त हो जाने पर रामदीन चाँद को साथ लेकर घर आ जाता। बहुत देर तक उसे कहानी सुना और उसके साथ बात-चीत कर दिल बहलाता, और उसके सो जाने पर स्वयं भी चारपाई की शरण लेता। किन्तु अब तो चाँद के भी चारों ओर भयानक बादल—ऐसे बादल जो कहते थे कि हम चाँद को एक बार ही सदा के लिए अपने में विलीन कर लेंगे—उमड़ रहे थे।

गाँव में कोई वैद्य अथवा हकीम न था। रामदीन चाँद को प्रति-दिन, दिन में तीन बार तुलसी के पत्ते और काली मिर्च पीस कर पिला देता था। उसके लिए यही कुनैन मिक्श्चर था, संजीवनी बूटी थी।

रामदीन के मिट्टी के टूटे-फूटे छोटे से घर में एक तेल का दीपक टिमटिमा रहा था। मिट्टी तथा एलुमीनियम के कुछ पात्र, एक टूटा सा ट्रङ्क और दो-चार कपड़े अस्त-व्यस्त पड़े थे। रामदीन एक टूटी सी चारपाई पर अपने जीवन के सहारे को छाती से लगाये बैठा था। चाँद कराह रहा था। दुःख का भार असह्य हो जाने पर रामदीन ने उपर्युक्त वचन कहे। सम्भवतः उसके मुख से निकली हुई वह क्षीण

ध्वनि अनन्त वायु मण्डल को चीरती हुई अभीष्ट स्थान तक पहुँच गई। थोड़ी देर पश्चात् चाँद को नींद आगई, किन्तु रामदीन उसे गोदी में लिए बैठा रहा।

चाँद ने दुःख के भयानक बादलों पर विजय प्राप्त कर ली थी। वह स्वस्थ हो गया था। केवल दुर्बलता शेष थी।

× × ×

रामदीन चाँद को लिए झोंपड़ी के सामने टहल रहा था। उसने एक घुड़सवार को दो व्यक्तियां के साथ अपनी ओर आता देखा। उन्हें देखते ही उसकी वैसी ही दशा होगई, जैसी कबूतर की बाज को देखकर हो जाती है। वह घुड़सवार कोट, ब्रिचेज़ तथा पिंडलियों तक के जूते पहने हुये था। दो व्यक्ति जो उसके पीछे-पीछे आ रहे थे लाल साफा बाँधे हुये थे। ये राजकर्मचारी प्रतीत होते थे। वे तीनों रामदीन के निकट आ चुके थे। रामदीन ने उन्हें झुककर सलाम किया।

"तू अब तक आबपाशी के रुपये जमा करने क्यों नहीं आया? कई बार चपरासी भी बुलाने भेजा, मगर बहाने करता रहा।" उस घुड़सवार ने, जो अब घोड़े से उतर चुका था, कड़क कर कहा।

"हजूर मेरा लड़का सख्त बीमार था।" रामदीन ने बड़े नम्र भाव से उत्तर दिया।

"बदमाश! हम सब जानते हैं तुम्हारी मक्कारी। अच्छा अब रुपये लाओ।"

"हजूर इस समय तो रुपये नहीं हैं। लड़का बीमार होने की वजह से बीस दिन से कहीं जा भी नहीं सका।"

"तू हमेशा इसी तरह तंग करके रुपये दिया करता है। अभी रुपये ला, नहीं तो इसी वक्त छत का कड़ी तख्ता उतरवा कर नीलाम करा दूँगा।"

"हजूर इस वक्त रुपया कहाँ से लाऊँ! मुझे एक हफ्ते की मोहलत और दे दो। मैं बन्दोबस्त करके खुद हजूर के पास पहुँचा दूँगा।"

"नहीं, यह वसूल का आखिरी हफ्ता है। हम और मीयाद नहीं बढ़ा सकते।"

"तो हजूर अब मैं क्या करूँ?"

"यह सीधी तरह नहीं मानेगा, इसके घर के किवाड़ों की जोड़ी और छत का कड़ी तख्ता उतार लो।"

"तुम्हारे पैर पकड़ता हूं, हजूर ऐसा न करो! गरीब हूं, मारा जाऊँगा! अच्छा दो दिन की ही मीयाद दे दो।" कहता हुआ रामदीन उस अफसर के पैर पकड़ने के लिए उसकी ओर झुका।

"दूर हट बदमाश! हम अब एक दिन की भी मोहलत नहीं दे सकते, इस गाँव का और सब रुपया बेबाक हो चुका है।" उस अफसर ने रामदीन के जोर से जूते की ठोकर मारते हुए कहा। जूता रामदीन के दाहिनी पिंडली की सामने वाली हड्डी पर पड़ा। रामदीन ठोकर की चोट सहन न कर सका। ठोकर लगते ही कटे वृक्ष के समान पीछे जा पड़ा।

इस समय तक वे सिपाही किवाड़ों की जोड़ी उतार चुके थे और छत की कड़ियें उतार रहे थे।

× × ×

उसी रात को—

अर्द्ध रात्रि का समय था। आकाश में बादल घिर रहे थे। रामदीन अपने बिना छत तथा किवाड़ों के पूर्ण हवादार घर में चाँद को अपनी छाती से लगाये सो रहा था। जोर से बिजली कड़की। रामदीन की आँख खुल गई। ठंडी हवा सर्राटे के साथ चल रही थी। चाँद के साँस की गति भी अति तीव्र होगई थी। उसके शरीर से चिंगारियाँ सी निकल रही थीं। उसे ज़ोर का ज्वर हो गया था। इतने ही में मूसलाधार जल-वृष्टि होने लगी। रामदीन शीघ्रता से चाँद को गोदी में लेकर उठा किन्तु खड़ा न हो सका। सम्भवतः ठोकर की चोट उसकी टाँग की हड्डी पर गहरी पड़ी थी। उसने गला फाड़-फाड़ कर कुल पड़ोस के व्यक्तियों के नाम लेकर पुकारने शुरू किये किन्तु वर्षा की भयंकरता ने उसका प्रयत्न निष्फल कर दिया। उसका शब्द उसके घर की दीवारों के अन्दर ही गूंजकर रह गया। अन्त में हताश होकर वह चांद को सब कपड़ों में लपेट कर चारपाई पर लेट गया।

वर्षा अधिक विकराल रूप धारण कर रही थी। रामदीन को चांद का शरीर ठण्डा सा पड़ता प्रतीत होने लगा। साँस की गति भी धीमी पड़ती जा रही थी। उसकी अन्तरात्मा हा हा कार कर उठी! उसके जीवन-दीप के तेल की अंतिम बूंद जल रही थी। संसार सागर की भयानक लहरों में पड़ी हुई उसकी जीवन-नौका के पेंदे में सुराख किया जा रहा था। उसे इस बादल, बिजली तथा शीत में प्रलय काल की विनाशकारिणी शक्ति दृष्टिगोचर हो रही थी, क्योंकि उसके लिए तो चांद ही प्रकाशदायक था—आशाओं का केन्द्र था—

मानो किसी मानसिक कष्ट की वेदना सदा जोंक की भाँति उसके रक्त को चूसा करती है। मैंने इस परिवर्तन का कारण पूछने का निश्चय कर लिया।

सायं समय हम दोनों घूमने निकले। हमारे घर से लगभग आध मील की दूरी पर एक नहर है। शहर से वाहर वह एक हरे-भरे जंगल में से होकर बहती है। मार्ग में एक नदी पड़ती है। वह नहर उस नदी के ऊपर से पुल बांध कर ले जाई गई है। वह बड़ा ही चित्ताकर्षक दृश्य है। हम दोनों नहर के किनारे घूमते-घूमते इसी नदी के पुल पर जा पहुँचे। पुल के परली पार जाकर नहर के पक्के तट पर बैठ गये।

"मोहन ! एक बात पूछता हूँ, बताओगे ?" मैंने धीमे स्वर में कहा।

"क्या बात ?" उसने पूछा।

"मैं कुछ महीनों से तुममें बहुत परिवर्तन होता देख रहा हूं। तुम पहले की भाँति अब प्रसन्न नहीं दिखाई देते। स्वास्थ्य भी दिन पर दिन ख़राब होता जा रहा है। चाची जी कहती थीं कि तुम अब विवाह के नाम से भी बहुत चिढ़ने लगे हो। आज की ही भाँति मैंने कई बार पहले भी तुम्हें चिन्ता-पयोधि में ग़ोते लगाते देखा है। इन सब बातों का कारण क्या है ?"

कुछ देर तो वह चुप रहा। फिर एक लम्बी साँस लेकर बोला, "बताऊँगा, विजय ! आज तुम्हें अपनी वेदना का कारण अवश्य बतलाऊँगा, अब एक मात्र तुम्हीं तो मुझसे सहानुभूति रखने

वाले एक मात्र व्यक्ति हो, यदि तुम्हारे आगे भी अपना दुःखड़ा न रोऊँगा, अपने हृदय के फफोले न फोड़ूंगा, तो दिल की बात कहूंगा किससे ? अच्छा सुनो—

"आज से लगभग एक वर्ष पूर्व की बात है कि मुझे अपने पिता जी की मृत्यु का समाचार मिला। तुम्हें तो मालूम ही है विजय, कि माता जी तो मुझे बचपन ही में छोड़ चल बसी थीं। बस, मैं अपने हृदय को शान्त करने के लिए, इसी एकान्त स्थान में आ बैठा। मैं अपने शोक में मग्न था। अचानक एक युवती पर मेरी नज़र पड़ी, जिसकी आयु लगभग १८ वर्ष की होगी। उसके साथ लगभग ४-५ वर्ष की एक बालिका भी थी। वे दोनों प्रायः तीन महीने से सायंकाल वहाँ घूमने आया करती थीं। मैंने देखा वे दोनों इसी ओर आ रही थीं। मैं फिर अपनी चिन्ता में मग्न हो गया। कुछ मधुर शब्दों की ध्वनि ने मेरी विचार शृङ्खला भङ्ग कर दी। उस युवती ने हँसकर उस बालिका से कहा, 'जाकर उस व्यक्ति के गाल पर एक चपत लगा दे।' मैंने उस ओर विशेष ध्यान न दिया। मैं फिर अपने भाग्य तथा संसार की क्षणभंगुरता पर विचार करने लगा। मैं सोच रहा था, कि मनुष्य केवल थोड़े से दिनों के लिए इस संसार में आता है; फिर भी क्यों इतने नीच तथा अमानुषिक कार्य करता है। उस शरीर की रक्षा के लिए, जो अन्त में अवश्य ही अग्नि की भेंट हो जाना है, क्यों सैकड़ों प्राणियों के गले पर छुरी चलाता है।

"अपने समीप ही कुछ आहट पाकर मैं चौंक पड़ा। गरदन उठाकर देखा तो उस युवती और बालिका को दूसरे किनारे पर खड़ा

पाया। मैंने समीप रखी हुई अपनी टोपी उठाई और उस स्थान से प्रस्थान किया।

"कुछ काल पश्चात लौटते समय मुझे वे दोनों पुल के नीचे मिलीं। युवती ने मुझे रोक कर कहा, 'मुझे दुःख है कि उस समय हमने आकर आपके आराम में बाधा डाली।'

"मैंने उत्तर दिया 'इसमें दुःख की क्या बात? मैं तो उस समय स्वयं ही वहाँ से चलने का विचार कर रहा था। निसन्देह मुझे एक बात पर दुःख अवश्य है।'

"किस बात पर?" युवती ने पूछा।

"आपकी आज्ञा का पालन न होते हुए देख कर" मैंने उत्तर दिया। उसने बालिका के गाल पर एक हलकी सी चपत लगा दी और पूछा, "अब तो ख़ुश हो?" और फिर मुस्करा कर वहाँ से चली गई। बस विजय! इन शब्दों का मेरे ऊपर विचित्र प्रभाव पड़ा। पिता जी की मृत्यु का दुःख न जाने कहाँ लोप हो गया! ज्ञान और वैराग्य न जाने कहाँ अन्तर्धान हो गये और भविष्य की चिन्ता भी न जाने किस सुख की आशा में विलीन हो गई? मैं रात भर उसी के विचार में मग्न रहा।

"अगले दिन फिर अपने इसी पुराने स्थान पर आ बैठा। कुछ काल पश्चात् वे दोनों वहाँ बैठने के लिए आईं, किन्तु मुझे वहाँ बैठा देख कर लौटने लगीं। 'आप क्यों लौट रही हैं? मैं ही यहाँ से चला जाता हूँ' मैंने साहस करके कहा।

"आप ही बैठें, मैं ही कोई दूसरा स्थान ढूंढ लूंगी।" उसने उत्तर

दिया। "क्या हम दोनों यहाँ नहीं बैठ सकते ?" मैंने गम्भीरतापूर्वक पूछा। वह विस्मय की दृष्टि से मेरी ओर देखती हुई वहीं नहर के दूसरे तट पर बैठ गई। उसने मेरा नाम पूछा, मैंने बता दिया। विजय, मैंने भी उसका नाम पूछा था। उसका नाम रमा था।

"बस विजय, यह हमारा नित्य का कार्य हो गया। हम रोज़ सांयकाल इसी स्थान पर मिल जाते थे। हम दोनों में बहुत घनिष्ठता हो गई थी और शायद प्रेम भी। एक दिन मैंने उससे पूछा, 'रमा क्या तुम..........?' किन्तु आगे कुछ न कह सका, ज़बान लड़खड़ा गई। इतने ही में उस बालिका ने रमा से पूछा, 'बहन जी, ये कौन हैं ?' उसने वक्रदृष्टि से मेरी ओर देख कर मुस्कराते हुए कहा, 'तुम्हा....,' किन्तु शीघ्र ही बात पलट कर बोली, 'कम्मो दीदी के भैया।'

"बालिका की उत्सुकता शान्त हो गई, किन्तु मेरी व्यग्रता बढ़ गई। शायद प्रथम उत्तर ही मेरे प्रश्न का भी उत्तर था।"

एक दिन रमा ने कहा, "हम कल मेरठ जा रहे हैं।"

"क्यों ?" मैंने पूछा।

"मैंने तुम्हें बताया था कि मेरे पिता जी मेरठ में जनरल मरचैण्ट हैं। हम लोग यहाँ केवल घूमने के लिए आये हुए हैं" उसने उत्तर दिया।

"मेरा भी मेरठ डिगरी कालेज में ही बी० ए० जौइन करने का विचार है! तीन माह पश्चात् मैं भी वहीं आ जाऊँगा" मैंने कहा।

"देखो भूलना मत, ऐसा ही करना" उसने उत्तर दिया।

बस विजय, उसी दिन मेरा वह स्वर्ग-सम सुख-स्वप्न लोप हो गया। मैं उस समय ऐसा उन्मत्त सा हो गया था कि उसका मेरठ का पता भी पूछना भूल गया। उसने भी मेरा पता न पूछा।

"ज्यों त्यों करके दिन व्यतीत करने लगा। विजय! मैं फिर भी इस स्थान पर घूमने के लिए आता था, किन्तु यह स्थान मुझे बड़ा भयानक सा प्रतीत होता था। नहर की मधुर कलकल ध्वनि कानों में तीर का काम करती थी। ऐसा प्रतीत होता था, मानों इस स्थान का पत्ता-पत्ता मुझे निगल जाने के लिए मुँह फैलाये हुए है"।

मैंने कहा, "ठीक है भैया! संसार में तो न दुःख है, न सुख। जब मनुष्य का मन किसी प्रसन्नता के रँग में रँगा होता है, तो उसे यही संसार इन्द्र के नन्दन वन से भी अधिक सुखमय प्रतीत होता है, किन्तु जब मन किसी चिन्ता तथा दुःख के बोझ से दबा हुआ होता है, तो इसी संसार में नरक का भ्रम होने लगता है।"

उसने मेरी बात की ओर विशेष ध्यान न देकर कहना शुरू किया—"कालेज खुलने से भी एक सप्ताह पहले मैं मेरठ पहुंच गया। लाख प्रयत्न किये, किन्तु उसके नाम मात्र से ही उसका पता न लगा सका, किन्तु फिर भी मैं निराश न हुआ।

"एक दिन मैं लाइब्रेरी में बैठा हुआ एक पुराना अखबार पढ़ रहा था। बस विजय, उसका एक समाचार पढ़ते ही दिल चूर-चूर हो गया, उसमें लिखा था—

'लालेराम अनन्त मर्चेन्ट की पुत्री रमा ने फेरों की रात को विष खाकर प्राण त्याग दिये। उसने यह बलिदान समाज की आँखें

खोलने के लिए किया, क्योंकि माधोराम उसका विवाह पाँच हज़ार रुपये लेकर एक वृद्ध व्यक्ति से कर रहे थे।'

"विजय ! समाज उसकी मृत्यु का कारण कुछ भी समझे, किन्तु उसकी मृत्यु का असली कारण तो मेरा हृदय जानता है। वह मुझे प्यार करती थी। विजय ! भला वह अन्य व्यक्ति को पति कैसे स्वीकार करती !

"बस विजय, विवाह का नाम सुनते ही उसकी मोहनी सूरत मेरी आँखों के सामने नाचने लगती है।"

मैंने उसको समझाने के तौर पर कहा, "पागल हुए हो मोहन ! इतनी सी बात के लिए अपना तमाम जीवन मिट्टी कर देने पर तुले हो !"

उसने कहा, "पागल !" और वह हँस पड़ा। उसने कहना शुरू किया—

"मेरा अब यहाँ कुछ काम नहीं रहा। विजय, सारा संसार तो मुझे पागल कहता ही था, जब मेरे जीवन का एक मात्र सहारा, मुझसे सहानुभूति रखने वाला मेरा एक मात्र मित्र भी मुझे पागल समझने लगा, तो अब मेरा यहाँ क्या काम ?"

उसने फिर कहा "निःसन्देह पागल" और वह उठ कर चल दिया और कुछ ही क्षणों में उस घने जंगल में आँखों से ओझल हो गया। मैं हतबुद्धि होकर उसकी ओर ताकता ही रह गया, किन्तु जीवन भर इस दुःखाग्नि में जलने के लिए, क्योंकि मैंने फिर लाख प्रयत्न किये, किन्तु उसे न पाया।

भूकम्प के आतंक से

दो-चार जगह भूकम्प क्या आया कि लोगों को भूकम्प प्रत्यक्ष खड़ा नज़र आने लगा। जहाँ देखो ज्योतिषी भी उसीके उलट फेर में फँसे हुए हैं। प्रतिदिन भूकम्प की सैकड़ों पेशीनगोइयें होती हैं, मगर जो रंग भूकम्प के पैगाम ने देहरादून में दिखाया, शायद ही किसी और जगह दिखाया हो।

लगभग पन्द्रह दिन से सारे शहर में सनसनी फैली हुई थी, क्योंकि गरमागरम ख़बर थी कि १२ जून को भूकम्प साहिब देहरादून में नयनांक का टेकरा लाने वाले हैं। इस आगमन की सूचना लाने वाले का पता न था, मगर उनके स्वागत के लिये ज़ोरों की तय्यारियाँ हो रही थीं।

एक दिन हमारे पास एक मित्र आये। पूछने लगे 'यार तुमने कुछ और भी सुना है?'

'क्या?' हमने बड़े इतमिनान के साथ पूछा।

'सिर पर मौत मंडरा रही है और तुम यों गफ़लत की नींद में सोये हुए हो, कहीं भाँग खाकर तो बाज़ार नहीं जाया करते? इतनी ख़ास बात और तुम्हें पता तक नहीं?' मित्र ज़रा बिगड़ कर बोले।

हमने गर्दन उठाकर बड़े ग़ौर से देखा, मगर सिर के ऊपर कुछ नज़र न आया। अन्त में बड़ी मिन्नत के साथ कहा।

'कम से कम इस वक्त तो कान दुरुस्त हैं। आख़िरकार बताओ तो सही क्या माजरा है?'

'सहस्रधारा में गन्धक के चश्मे का पानी बन्द हो गया।' उन्होंने बड़ी गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया। कान तो इस अफ़वाह को सुनकर हमारे भी खड़े हुए थे मगर एक आदमी से, जो आज ही सहस्रधारा से आया था, यह सुनकर कि वह अभी जीती-जागती हालत में गन्धक के चश्मे में नहा कर आ रहा है और पानी के बहाव में उन्नीस-बीस का भी फर्क नहीं है, यह धारणा हो गई थी कि सब अफ़वाह इसी प्रकार निराधार हैं। इसीलिये बड़ी बेफिक्री के साथ पूछा—'क्या कोई देख कर आया है?'

अब तो मानो बारूद के ढेर में चिंगारी पड़ गई।

बिगड़ कर बोले—'अजीब अक़्ल के मालिक हो! कोई देख कर आया होगा तभी तो ख़बर फैली है। अब देखकर आने का समय नहीं हज़रत! अब तो भाग कर जान बचाने का समय है। गन्धक

का चश्मा बन्द हो गया है, इसलिये भूकम्प को नज़दीक ही समझना चाहिये !'

'तो अब क्या विचार किया है ?'

'विचार क्या, आज शाम की गाड़ी से देहली जा रहे हैं। और हमारी तो यही राय है कि तुम भी हमारे साथ ही चलो।'

हमें उनके बिगड़ने से बड़ा डर लगता था इसलिये केवल इतना ही कहा—'आप चलिये हम भी सोच-विचार कर आ ही जावेंगे।'

उन्होंने बड़ी सहानुभूति के साथ उत्तर दिया—'अब सोच-विचार का समय नहीं है, बस आ ही जाना और देखो कहीं देहली से उरे ही न रुक जाना, क्योंकि इस भूकम्प का असर कम से कम मुज़फ्फ़र-नगर, मेरठ तक तो पहुँचेगा ही।'

और हाथ मिला कर चले गये।

× × ×

खबर एक नहीं हज़ारों थीं और थीं भी एक से एक मज़ेदार। एक सज्जन बोले—

'ढाकरे में ज़मीन के अन्दर लावा बहने की आवाज़ आ रही है और सरकार ने गोरखा पलटन और तोपखाना जो सदा वहाँ रहा करता था वहाँ से हटा दिया है।'

और कई सज्जनों ने उनकी इस बात की ताईद भी की।

यह खबर भी काफ़ी ज़ोरों से उड़ रही थी कि 'गुरु रामराय जी के झण्डे पर कौआ बैठ कर बोल गया है' और यह देहरादून के बरबाद होने की अलामत है।

बहुत से लोग जो गर्मी की वजह से सैर करने के लिये मसूरी आ रहे थे यह ख़बर सुनते ही ववापसी ट्रेन लौट गये। मसूरी और देहरादून के भी बहुत से आदमियों ने अपने बोरिये-बिस्तर सँभाले। इस भाग-दौड़ का मोटर वालों ने ख़ूब फ़ायदा उठाया। कम्पीटीशन की वजह से सहारनपुर का किराया आठ आने हो रहा था मगर अब खटाक से दो रु० हो गया।

× × ×

हमारे मुहल्ले में एक मीर साहब रहते थे। ज़मीन-जायदाद तो नहीं थी मगर घर में नक़दी काफ़ी थी और कुछ ज़ेवरात भी थे। घर में केवल तीन प्राणी थे—वे खुद, बीबी और एक पन्द्रह-सोलह साल की लड़की। इस भूकम्प के आगमन की सूचना ने उनका हाल बेशक काबिले रहम कर रक्खा था। दस तारीख़ को प्रातःकाल लगभग आठ बजे बड़े घबराये हुए आये और बोले—

'ख़बरें तो बहुत सुनी थीं मगर कल बहुत ख़तरनाक ख़बर सुनी है और वह ख़बर आई भी है तार से! अमा खुदा जाने रात भर नींद तक नहीं आई।'

दहशत तो हमारे दिल में भी थी किन्तु क्या करते, आदत से मजबूर थे, इसीलिये ज़रा गम्भीर होकर बोले—

'मीर साहब गनीमत समझिये ख़बर तार से आई। अगर कहीं वायरलैस से आती तो और भी ग़ज़ब होता! आख़िरकार सुनाइये तो सही ऐसी कौन सी मनहूस ख़बर है जिसने जनाब की नींद तक हराम कर दी।'

'तुम्हें तो हमेशा मज़ाक सूझा करती है।' उन्होंने झुँझला कर कहा और फिर अपनी कुर्सी ज़रा और नजदीक सरका कर बोले—

'यहाँ एक कन्या-गुरुकुल है न! उसमें मद्रास के मिटिओरोलाजिकल डिपार्टमेन्ट के साहब की लड़की पढ़ती है। समझे!'

'मैं सब समझ रहा हूं आप कहते रहिये।'

उन्होंने हमारी बात सुनी वेसुनी करके अपनी ज़बान के घोड़े की लगाम ज़रा और ढीली की।

'हाँ! तो उस लड़की के पास 'उसके वालिद का तार आया है कि देहरादून से फ़ौरन चली आओ क्योंकि १२ तारीख़ को मसूरी फटने वाली है।'

'आखिरकार मिटिओरोलाजिकल डिपार्टमेन्ट के अफ़सर की बात झूठी कैसी हो सकती है! वहाँ वालों ने क्वेटा में भी जलज़ला आने से तीन-चार दिन पहिले ही क्वेटा के डिस्ट्रिक्ट सुपरिंटेंडेंट के पास ख़त डाल दिया था, मगर क्या किया जाय, ख़ुदा की ऐसी ही मर्ज़ी थी, ख़त न जाने बीच में कहाँ रुक गया और क्वेटा भूकम्प आ जाने के बाद पहुँचा। इसीलिये तो उन्होंने अब के तार से ख़बर भेजी है।'

हमारे एक मित्र, जो अब तक चुपचाप बैठे बड़े ग़ौर से हम दोनों की बातें सुन रहे थे, बोले—'तो पीर साहब इतने घबराने की क्या बात है, आख़िरकार होगा तो वही जो ख़ुदा को मंज़ूर होगा।'

'यह तो ठीक है, मगर ख़ुदा ने इन्सान को अक़्ल जो दी है, उससे भी तो काम लेना चाहिए। अगर बाढ़ का अन्देशा हो तो उससे बचाने के पहले ही पुश्ता बनवाने से काम चलता है, न कि जानवरों

की तरह सब कुछ खुदा की मर्ज़ी पर छोड़ देने से।' मीर साहिब ने हमारे मित्र की तरफ़ मुख़ातिब होकर कहा।

'मीर साहिब यह न कहिये! जानवरों में इन्सानों से ज़्यादा अक़्ल होती है। हमने सुना है कि भूकम्प आने से चार-पाँच दिन पहिले ही क्वेटा के परिन्दों तक ने क्वेटा छोड़ दिया था।' हमारे मित्र ने उत्तर दिया।

अब हमसे चुप न बैठा गया। खटाक से एक तीर छोड़ ही दिया।

'तौ तो डरने की कोई बात नहीं, क्योंकि हमने सुना है कि झण्डे पर बैठ कर कौआ बोल गया। इसके मानी हैं कि यहाँ के परिन्दे अभी तक यहाँ से नहीं भागे.....।'

'अमा इन फ़िज़ूल की बातों में क्या रक्खा है। मैं तो तुमसे एक ज़रूरी मामले में राय लेने आया हूं।' मीर साहिब हमारी बात काटते हुए बोले।

'फ़रमाइये।'

'बात यह है कि मैं तो अपनी बीबी और लड़की को नौकर के साथ शिमले भेज रहा हू। वहाँ हमारे एक मामूजाद भाई हैं, उन्हीं के पास महीने दो महीने रह आयेंगी। कहिए आपकी क्या राय है?'

'आपका ख़याल तो बड़ा माकूल है, मगर उन्हें नौकर के साथ क्यों भेज रहे हैं? आप खुद भी उनके साथ क्यों न चले जायें।'

'सोचा तो मैंने भी पहिले यही था मगर सब सामान तो साथ

लेकर जाना होता नहीं। यहाँ पर घर सँभालने के लिए भी तो कोई चाहिए।'

अब हमारी समझ में सब माजरा आ गया था और देर भी काफ़ी हो गई थी इसलिए बात और बढ़ानी उचित नहीं समझी।

इसी प्रकार एक से एक गर्म ख़बर सुनते-सुनाते १२ ता० आ ही गई। मीर साहिब लड़की और बीबी को तो नौकर के साथ शिमले को रवाना कर ही चुके थे, उस दिन खुद भी सूर्योदय से भी पहिले ही एक कपड़े में आठ-दस रोटियाँ बाँध कर जंगल की राह ली। कह हमसे भी रहे थे कि 'चलो भाई जंगल चलें, सुना है कि जंगल में ज़्यादा खतरा नहीं रहता। अगर ख़ुदा का फ़ज़ल रहा तो कल सुबह को लौट आयेंगे।' मगर हमें यह राय पसन्द नहीं आई, क्योंकि मरने से पहिले अभी कई काम करने बाक़ी थे। सबसे पहिले तो चार-पाँच आर्टिकल्स जो फ़ेयर किये हुए पड़े थे, एडिटर्स के पते लिख कर लेटरबक्स में डाल आये। हालाँकि बाद में ख्याल आया कि जल्दी में उन पर टिकट लगाने याद नहीं रहे। ख़ैर जो हुआ सो हुआ! उसके बाद अपने वतन के मित्रों ने अन्तिम भेंट की और कहे-सुने की माफ़ी माँगी।

घर आकर सोच रहे थे कि अब क्या करें कि हमें एक बड़े मार्के की बात सूझी। हमने सुन रक्खा था कि मरते समय यदि मुँह से 'राम-राम' निकलता रहे तो स्वर्ग का फाटक बिल्कुल चौपट खुला हुआ मिलता है। मगर मुश्किल यह था कि उस [illegible] में खून का [illegible] हो [illegible] तो [illegible] राम नाम का जप करने बैठे [illegible]!

आख़िरकार इसकी भी दवा खोज ही निकाली। हमें हमारे बनारस के एक मित्र ने बताया था कि भंग का नशा चढ़ते वक्त जिस बात की धुन सवार हो जाती है नशा उतरने तक उससे पिण्ड नहीं छूटता, इसलिए हमने भी एक भंग का गिलास चढ़ा कर ही राम नाम का जप करने बैठने की ठानी, ताकि जब तक नशा रहे निश्चित बैठ कर राम नाम की माला जपते रहें। भंग ज़रा बारीक घोटी थी ताकि कम से कम २४ घंटे—यानी जब तक भूकम्प आने का फ़ैसला न हो ले; नशा रहे और अगर इस प्रकार भूकम्प में मरें भी तो स्वर्ग-गेट का टिकट ख़रीदने की आवश्यकता न पड़े। मगर भंग बदकिस्मती से ज़रा गहरी छन गई इसलिए माला लेकर बैठने के कुछ देर बाद ही नशे की वजह से चित्त हो गये।

जब अगले दिन हमें होश आई तो हम आँगन में चित्त लेटे हुए सोच रहे थे कि हम स्वर्ग में हैं! या भूकम्प की कृपा से पाताल लोक में!

बड़े सोच-विचार के बाद अन्दाज़ा लगाया कि सब मामला बदस्तूर है और हमें ज्ञात हुआ कि इस प्रकार हम जैसे पापी की, बिना टिकट ही स्वर्ग में पहुँचने की इतनी ज़बर्दस्त तय्यारी देख कर, वह इस डर से आया ही नहीं कि बेचारे बूढ़े ब्रह्मा के असूल भंग न हो जायं। इसलिए अब हम बड़े इतमिनान के साथ उठे, नहाये-धोये जिससे नशा अच्छी तरह उतर जाय। पेट में चूहे कूद रहे थे, इसलिए कल की रक्खी हुई बासी रोटी खाकर बाहर निकले।

मीर साहब के यहाँ जाकर देखा कि बेचारे घर के बाहर ही

चारपाई पर बैठे माथा पीट रहे हैं। हमने बड़ी सहानुभूति से कहा—

'कहिये मीर साहिब ख़ैरियत तो है?'

'अरे ख़ैरियत होती तो रोना ही काहे का था? भूकम्प ने मेरा तो सत्यानाश कर दिया!' अब तो हमें इसमें शक न रहा कि हम स्वप्न देख रहे हैं या नशे में हैं। ख़ैर, सिर पर हाथ फेरते हुए पूछा 'भूकम्प! भूकम्प कब आया?'

'अरे आया कहाँ! वह तो बिना आये ही मैदान साफ़ कर गया। तुम्हें तो मालूम ही है कि कल सुबह मैं जंगल चला गया था। आज सुबह आकर देखा तो घर का ताला टूटा पड़ा था। कम्बख़्त रुपया-पैसा तो क्या, पहिनने के कपड़े तक नहीं छोड़ गये।'

और वे फिर माथा पीटने लगे। अब सब माजरा हमारी समझ में आ गया था। इसी समय चिट्ठीरसाँ ने आकर मीर साहिब को एक लिफ़ाफ़ा दिया, जिससे ज्ञात हुआ कि मीर साहिब की लड़की और बीवी, जिनके साथ कुछ कीमती सामान भी था, शिमला नहीं पहुँची, बल्कि शायद नौकर की कृपा से कहीं रास्ते में ही, मय नौकर के अंतर्धान हो गईं। अब मीर साहिब की हालत देखना हम जैसे कच्चे दिल के आदमी की शक्ति से बाहर हो गया था, इसलिए हम वहाँ से चुपचाप खिसक आये।

ब
लि
दा
न

विजय ! तुम आ गये ! मैं तो प्रतीक्षा में बैठी आशा तथा निराशा का द्वन्द्व देख रही थी। निराशा की विजय होने ही वाली थी।"

"तुमने मुझे बुलाने के लिए पत्र लिखा। मैं न आता। क्या यह सम्भव था राजकुमारी ? अब तक तो तुम्हारी आज्ञा की अवहेलना नहीं हुई। फिर निराशा का पलड़ा भारी क्यों होने लगा था ? सैनिक के पद पर होते हुए, आने में थोड़ी देर हो जाना, कोई आश्चर्य की बात नहीं। तुम्हें तो यह ज्ञात होगा राजकुमारी ! कि कल सेना तेजगढ़ के अभिमानी राजा सूरसिंह का दम्भ चूर्ण करने के लिए प्रस्थान कर रही है।"

"यह जानती हूं विजय ! इसीलिए तो तुम्हें कष्ट दिया है। विजय तुम बड़े भोले हो। यदि तुम स्त्री होते तो एक नारी-हृदय की वेदना समझ सकते।"
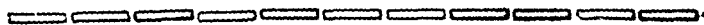
"सब समझता हूं राजकुमारी ! किन्तु ......।"

"किन्तु क्या ? इस स्थान को त्याग देने में तो तुम्हें विशेष आपत्ति न होगी।"

"राजकुमारी ! मैं सैनिक हूं। मेरा कर्तव्य राज्य-सम्पत्ति, प्रजा, तथा राजा के गौरव की रक्षा करना है। राज्य के लिए प्राणों तक की बलि चढ़ा देने के लिए उद्यत रहना सच्चे क्षत्रिय का धर्म है। राज-आज्ञा का अपमान कर, मोहवश अपने कर्तव्य से मुख मोड़ना हमारा धर्म नहीं—राजकुमारी ?"

"तो फिर ?"

"फिर क्या ? यह मेरे लिए असम्भव है। मैं किसी नीच कुल का नहीं, यह महाराज भी जानते हैं। दुर्भाग्य से आज एक सैनिक के पद पर हूं। मुझे विश्वास है कि अपनी भुजाओं का पराक्रम दिखाकर महाराज को प्रसन्न कर सकूंगा। वे वीरों का सम्मान करते हैं।"

सहसा भेरी की आवाज़ ने राजकुमारी को कँपा दिया—इस प्रेमालाप में राजकुमारी अजयगढ़ की चढ़ाई को भूल ही बैठी थी। भेरी की आवाज़ को सुनकर विजय ने कहा 'कुमारी, मुझे प्रेम से विदा दो। मैं अपने कर्त्तव्य में विजयी होऊँ—यह वर दो'—कहते हुए विजय ने युद्ध के लिए प्रस्थान किया।

× × ×

"सेनापति ! अजयगढ़ पर इस प्रकार अचानक आक्रमण करने पर भी हमारी पराजय हुई। कुछ समझ में नहीं आता।"

से०—"महाराज ! अचानक नहीं, शत्रु को हमारे आक्रमण की

पहले ही सूचना मिल चुकी थी। हमें वहाँ पर शत्रु-सेना तैयार मिली। नगर की चारदीवारी के निकट पहुँचते ही हम पर तीरों की वर्षा होने लगी। सैनिकों के पैर उखड़ गये।"

महा०—"किन्तु शत्रु को आक्रमण की सूचना बिना घर के भेदिये के कैसे मिल सकती है?"

उप सेनापति—"महाराज अपनी सेना में कोई ऐसा विश्वास-घाती नज़र तो नहीं आता? हाँ कूच की रात्रि को एक सैनिक अवश्य गुम था"

"कौन?" महाराज ने आतुरता से पूछा।

"विजयसिंह" उपसेनापति ने उत्तर दिया।

सेनापति—"महाराज उसके ऊपर ऐसी आशंका करना निर्मूल है। वह एक सच्चा सैनिक है। इस युद्ध में भी जान हथेली पर रख कर, तीरों की वर्षा में घोड़े को एड़ लगाता हुआ वह फाटक तक पहुँचा। किन्तु जब सब सैनिकों के पैर उखड़ गये, तब वह अकेला वहाँ कुछ न कर सका।"

महा०—"यद्यपि उसकी वीरता का परिचय मुझे मिल चुका है। एक बार आखेट में अपनी जान पर खेल कर उसने मुझे बचाया था। किन्तु फिर भी उससे रात्रि को अनुपस्थित रहने का कारण जानना आवश्यक प्रतीत होता है।" उसे दरबार में उपस्थित किया जाय!

थोड़ी देर में विजय को दरबार में उपस्थित किया गया।

× × ×

महाराज ने पूछा—"विजयसिंह, कूच की रात्रि को तुम अनुपस्थित थे ?"

"हाँ महाराज।" विजय ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया।

महा०—"तुम विना सेनापति की आज्ञा के उस दिन कहाँ गये थे ?"

विजय—"क्षमा कीजिये महाराज ! मैं यह बताने में असमर्थ हूं।"

महा०—"इसका परिणाम तुम्हारे लिए भयंकर होगा विजय !"

वि०—"मैं केवल इतना ही कह सकता हूं कि मैं किसी राज्य-संबन्धी कार्य से नहीं गया था।"

महा०—"यह कोई उत्तर नहीं। सम्भवतः तुम नहीं जानते हो कि इस अपराध का क्या दण्ड हो सकता है ?"

वि०—"जानता हूं महाराज। किन्तु जिस बात पर किसी दूसरे का मानापमान निर्भर हो, उसे बताने में असमर्थ हूं।"

महा०—"राज्य तुम्हारी वीरता तथा पराक्रम का ऋणी है। इससे तुम्हें प्राण-दण्ड तो नहीं दिया जा सकता, किन्तु राज-द्रोह तथा विश्वासघात के अपराध में पदच्युत किया जाता है।"

राजद्रोह तथा विश्वासघात का नाम सुन कर विजय ने एक लम्बी सांस खींचकर कहा :—

"महाराज ! इस समय मेरे पास निरपराध होने का कोई भी प्रमाण नहीं। महाराज को इस वेष में अन्तिम प्रणाम करके विदा चाहता हूं। सच्चा क्षत्रिय इस दोषारोपण के बाद भी जीवित है, किन्तु

केवल उस कालिमा को अपने रक्त से धो डालने का अवसर खोजने के लिए, जीवन के मोह से नहीं !"

× × ×

आज विजयसिंह के दरबार छोड़ने की घटना को ८ माह हो चुके हैं। लोग उसे लगभग भूल चुके हैं, इस बीच महाराज विक्रमसिंह एक दिन आखेट खेलते-खेलते अपने बीस-पच्चीस सैनिकों के साथ तेजगढ़ की सीमा में पहुंच गये और वहाँ सूरसिंह द्वारा बन्दी बना लिए गए। अजयगढ़ की सेना युद्ध की तैयारी में है। सेना में बहुत से नवीन सैनिक भर्ती किये जा चुके हैं।

अजयगढ़ की सेना ने आक्रमण किया। घमासान युद्ध हो रहा था। अजयगढ़ के सैनिक प्राणों का मोह त्याग कर दुर्ग के फाटक को तोड़ने का प्रयत्न कर रहे थे। शत्रु-दल दुर्ग-प्राचीर से बाण वर्षा कर रहा था। अचानक दुर्ग के अन्दर तलवार चलने का खनाखन शब्द सुनाई दिया। अजयगढ़ के सेनापति ने ललकार कर कहा :—

"वीरो ! सम्भवतः महाराज विक्रमसिंह तथा उनके अन्य साथियों को अपने हाथ तलवारों की मूंठों तक पहुँचाने का अवसर प्राप्त हो गया है, अतएव शीघ्र फाटक तोड़ने का उद्योग करना चाहिये !"

हाथी फाटक पर टक्कर लगाने के लिए दौड़ा-दौड़ा कर लाये जाते थे, किन्तु वे फाटक पर लगी चमचमाती हुई सलाखों को देख कर पीछे को लौट जाते।

सेनापति ने फिर कहा—"वीरो कुछ ही काल में महाराज के भाग्य

का निर्णय होने वाला है। पच्चीस सैनिक हज़ारों का सामना कब तक कर सकते हैं!"

यह सुनते ही एक. वयोवृद्ध सैनिक जिसके कान्तियुक्त चेहरे की शोभा उसकी श्वेत दाढ़ी बढ़ा रही थी और जो फाटक के समीप ही अपनी रण-कुशलता का परिचय दे रहा था, घोड़े से नीचे कूद पड़ा। एक चमकती हुई सलाख पकड़ कर वह लटक गया और गम्भीर स्वर में बोला, "वीरो! टक्कर लगाने के लिए हाथी आगे बढ़ाओ।" हाथी ने पूरे ज़ोर से फाटक में टक्कर लगाई। फाटक टूट गया।

सैनिक दुर्ग के अन्दर घुस गये। कुछ ही क्षणों की मारकाट के पश्चात् दुर्ग में शांति हो गई। शत्रुदल का एक-एक सैनिक धराशायी हो चुका था। महाराज विक्रमसिंह तथा अन्य सैनिक उस वीर की पूजा के लिए आगे बढ़े जिसने दुर्ग का फाटक खोलने में तथा महाराज को शत्रुदल से छुड़ाने में अपनी बलि दी थी। उसका वक्षस्थल सलाखों से बिंध गया था। सारा शरीर घावों से जर्जरित था, केवल उसका दाहिना हाथ नग्नावस्था में घावरहित था और उसकी भुजा पर अंकित था 'विजय' एक सैनिक ने देखा और सहसा चिल्ला उठा विजयसिंह! वह कृत्रिम दाढ़ी उसके मुख-मण्डल से अलग कर दी गई। विजय का नाम सुनते ही, महाराज आगे बढ़े, महाराज के कानों में सहसा आज से आठ मास पूर्व कहे, विश्वासघाती और राजद्रोही शब्द गूंज उठे! महाराज ने भरे कंठ से, आँसुओं की झड़ी से विजय के मुख को धोते हुए, करुणा भरी आवाज़ में

कहा—विजय मैं दोषी हूं, मैंने तुम्हारे साथ अन्याय किया, मुझे क्षमा करो !"

× × ×

आज की सुबह अजयगढ़ के इतिहास में निराली है ! विजयी अजयगढ़ की जनता आज अपने वीर को मान देने के लिए, एकत्रित हुई है ! बच्चे जवान और बूढ़े सभी अपने-अपने घरों से उसकी पूजा के लिए उपस्थित हैं। राजघराना, महाराज के रक्षक अमर शहीद वीर विजय को श्रद्धांजलि देने के लिए उपस्थित हैं। विजय की चिता जलनी आरम्भ हो चुकी है। अभी चिता आधी ही जल पाई थी कि इकट्ठी हुई जनता में शोर गुल सा मच गया। लोगों ने देखा कि राजकुमारी उस जलती हुई चिता में कूद पड़ी है ! उस धधकती हुई चिता से आवाज़ आई "मैं विजय के साथ हूं।"

अजयगढ़ में विजय और कुमारी की स्मृति में बने स्तम्भ को देखकर, लोग आज भी प्रेम और बलिदान की भावना से भरे हुए हृदयों से, उस पर प्रेम और श्रद्धा के आंसू बहाते हैं।

अभागा

वार्षिक परीक्षा के पश्चात् कौलेज दो माह के लिये बन्द हो गया। गिरीश छुट्टियें व्यतीत करने के लिये अपने ग्राम को प्रस्थान कर रहा था, मैं उसे छोड़ने के लिये स्टेशन पर गया। मार्ग में विभिन्न विषयों पर वार्तालाप होता रहा। "चार-पाँच वर्ष हुए तुम्हारे पास एक विद्यार्थी रहता था वह आजकल कहाँ है।" गिरीश ने उत्सुकता-पूर्वक पूछा।

"मोतीलाल! जिस प्रकार वह मोती मुझे आचनक धूल में पड़ा मिल गया था, उसी प्रकार लोप भी हो गया।" मैंने उत्तर दिया।

"भाई विचित्र मनुष्य हो! तुम्हारी पहेलियाँ तो मेरी समझ में नहीं आतीं, उसके आने के विषय में पूछने पर भी तुमने इसी प्रकार बात टाल दी थी।"

"अच्छा तो सुनो, तुम्हें उसके विषय में जो कुछ जानता हूं सुना रहा हूँ। आज एक पुराने पत्र ने मेरे घाव को हरा कर दिया है। मैं सायंकाल फुटबाल खेलने जाया करता था। वह भी फुटबाल खेलने
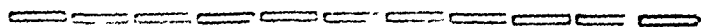
आता था। वहीं हमारी दोनों की जान-पहिचान का श्रीगणेश हुआ। उसे देखते ही मेरे हृदय में उसके लिये सहानुभूति तथा प्रेम उत्पन्न हो गया। वह दो रुपये माहवार किराये की एक छोटी सी कोठरी में रहता था। घनिष्ठता बढ़ जाने के पश्चात्, मैंने उससे कहा कि मैं आजकल मकान में इकला ही हूं। वहाँ हम दोनों के लिए पर्याप्त स्थान है। व्यर्थ में दो रुपये महावार व्यय करने से क्या लाभ! उसने मेरा प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और आकर मेरे ही पास रहने लगा। मेरे लिये खाना घर पर ही ब्राह्मण बनाता था, मैंने लाख प्रयत्न किया कि वह वहीं मेरे पास भोजन कर लिया करे किन्तु मैं अपने प्रयत्न में असफल रहा। वह बराबर ढाबे में खाना खाता रहा। मुझे उसके विषय में विशेष जानकारी प्राप्त करने की उत्कण्ठा भी हुई। मैंने उससे कई बार उसके घर-बार का हाल पूछा भी किन्तु कोई सन्तोष-जनक उत्तर न मिला। एक बार मुझे ज्ञात हुआ कि आजकल मोती सायंकाल भोजन करने नहीं जाता। मैंने इसके विषय में उससे पूछा किन्तु उसने तबियत ठीक न होने का बहाना किया। अन्त में विवश होकर इस विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिये मैं उसके ढाबे में गया। वहाँ मुझे ज्ञात हुआ कि उसने वहाँ केवल एक वक्त का ही ठहरा रक्खा है और कई मास से बराबर एक वक्त ही भोजन कर रहा है। मैं उससे इस विषय में पूछने का दृढ़ निश्चय करके घर आया। दूसरे दिन प्रातःकाल जब मैं मोती के कमरे में गया तो कमरा खाली पाया। प्रातःकालीन सूर्य्य के अरुण प्रकाश में मैंने एक पत्र उसकी मेज़ पर पड़ा हुआ देखा। उसमें लिखा था—

प्रिय मित्र—

मैं तुमसे सदा के लिये विदा हो रहा हूं। अब तुम्हें अपना पूर्ण परिचय दे देने की इच्छा सी होती है। अपनी दुःख-पूर्ण गाथा तुम्हारे सामने गाने का इरादा तो नहीं था भाई ! क्योंकि मैं जानता था कि तुम मुझे प्यार करते हो। मेरी मुसीबतों का हाल सुन कर तुम अपने फूल से हृदय में एक कांटे का बीज बो लोगे। इसलिये तुम्हारे कई बार आग्रह करने पर भी मैंने तुम्हें अपने विषय में कुछ न बताया। क्षमा करना भाई ! केवल इसीलिये अब तक तुम्हारी इस आशा की अवहेलना की। किन्तु आज, आह ! आज तो उन हृदय के फफोलों को फोड़े बिना नहीं रहा जाता। सम्भवतः, नहीं, नहीं निश्चय ही, आज तुमसे सदा के लिये विदा हो रहा हूं। कालचक्र की अधिक चोटें सहन करने की अब शक्ति नहीं रही। मैं तो अब तक कभी का अपने अस्तित्व को खो बैठा होता, यदि तुम अब तक मेरी रक्षा न करते, दुःख केवल इसी बात का है कि इस जीवन में तुम्हारा ऋण न चुका सकूंगा। हां, तो किधर से किधर भटक गया। जीवनगाथा ? उस अनाथ बालक की जिसके माता-पिता उसे बारह वर्ष की अवस्था में इस अनन्त संसार में इकला छोड़ कर चल बसे हों, उसकी जीवन-गाथा क्या हो सकती है मोहन ? आंखों से निकले हुये चार अश्रु बिन्दु और दिल से निकली हुई एक सर्द आह ही उसका संक्षिप्त इतिहास है। नाना जी की मृत्यु के पश्चात् मुझे उनके लगभग ५००) रु० के रुपये मिले। लोगों ने सलाह दी कि इन्हें देकर एक छोटी सी दूकान खोल लो, जीवन-निर्वाह योग्य कमाने ही लगोगे ! किन्तु मोहन, उन

दिनों तो सर पर पढ़ाई का भूत चढ़ा हुआ था और अब तक भी उससे पिण्ड न छुड़ा सका। वह धन, पूर्ण से कुछ कम व्यय हो चुका है। ऐसी स्थिति में भला चैन के साथ दोनों समय भोजन कैसे करता ? हाँ, आत्मा और शरीर को साथ रखने के लिये थोड़ा सा भोजन तो अनिवार्य था। कल तुम्हें मेरी स्थिति सा वास्तविक ज्ञान हुआ। तुम मेरे कष्ट को दूर करने का प्रयत्न करते, किन्तु मैं नहीं चाहता मोहन, कि तुम मेरे लिये इतना कष्ट उठाओ। मुझे ज्ञात है कि तुम अपना काम ही कितनी कठिनाई से चला रहे हो। इस प्रकार चुपचाप बिना तुम्हारी आज्ञा लिये हुए जा रहा हूं, इसके लिये क्षमा करना। आज तक तुमने मेरी किसी प्रार्थना की अवहेलना नहीं की, आज अन्तिम प्रार्थना है कि तुम मुझे भूल जाना, मेरे लिये अपने जीवन को दुःखमय मत बनाना। यदि इस जन्म में परमात्मा ने मुझे तुम्हारे ऋण से उऋण होने की शक्ति दी तो फिर तुम्हारे दर्शन कर अपने को कृतार्थ करूँगा। अच्छा, विदा।

आज इस घटना को लगभग ४ वर्ष हो गये ! किन्तु बहुत परिश्रम करने पर भी उसका पता न लगा सका।"

इतने ही में हम दोनों स्टेशन पर पहुँच गये। गाड़ी के छूटने में काफ़ी देर थी, एक बेंच पर बैठ कर हम वार्तालाप करने लगे। इतने में ही एक कुली वहाँ आया और कहने लगा—'बाबू जी सामान रेल में रख दूँ।'

गिरीश के पास अधिक सामान नहीं था। केवल एक बक्स और

एक छोटी सी गठरी थी। उसने उत्तर दिया—'सामान अधिक नहीं है, हम खुद रेल में रख लेंगे।'

'अगर आप लोग ही सामान खुद उठाने लगेंगे तो हम ग़रीब तो भूखों मर जायंगे' उसने बड़ी मर्मस्पर्शी वाणी में उत्तर दिया। काली दाढ़ी और मूंछें उसके चेहरे के विषाद को छिपाने का व्यर्थ प्रयत्न कर रही थीं। उसका यह वाक्य अपना काम कर गया। यद्यपि हमें उससे सामान रेल में नहीं रखवाना था तो भी मैंने एक चवन्नी जेब से निकाल कर उसे दे दी। पैसे लेकर भी वह गया नहीं, बहुत देर तक वहीं एक खम्बे के सहारे खड़ा रहा। गाड़ी छूट जाने के पश्चात् मैं अपने घर आगया।

× × ×

सायंकाल का समय था। घर में बैठे-बैठे तबियत उकता गई। घूमने का विचार कर जमुना जी के पुल की ओर चल दिया। मैं पुल से लगभग एक फरलांग की दूरी पर हूंगा कि मुझे एक व्यक्ति पुल के किनारे की दीवार पर चढ़ने का प्रयत्न करता नज़र आया। मुझे कुछ शंका हुई इसलिये मैं उसकी ओर दौड़ा। उसने अपनी जेब से कुछ निकाल कर पुल पर डाला और स्वयं जमुना जी में कूद गया। मैं भी दौड़ कर दीवार पर चढ़ गया। मुझे अपने अच्छे तैराक होने का घमण्ड था, इसलिये मैंने भी निधड़क उसका अनुसरण किया। गुचकी लगाई, इधर-उधर बहुत तलाश किया। किन्तु कहीं उसका पता न चला। वह तो मेरे पुल की दीवार पर चढ़ने के पूर्व ही अनन्त जलराशि में विलीन हो चुका था।

निराश होकर बाहर निकला। पुल पर उसका डाला हुआ पत्र उठाया। उस पर अपना पता लिखा हुआ देखा तो नेत्रों के सामने अँधेरा छाने लगा। काँपते हुए हाथों से पत्र खोल कर पढ़ा। उसमें लिखा था—

प्यारे मोहन,

तुम्हारा मोती इस जीवन का भार सहने में असमर्थ हो जाने के कारण इस संसार से विदा हो गया। जमुना माता की गोद ही उसे अत्यन्त शांति तथा सुख का स्थान प्रतीत हुआ। तुम्हारे पास से मैं सीधा इलाहाबाद आ गया था, वहाँ कुछ ट्यूशन मिल गई थी, जिसके सहारे मैंने वहीं दो वर्ष में बी० ए० कर लिया था, इसके पश्चात् वह ट्यूशन छूट जाने के कारण युनिवर्सिटी छोड़ देनी पड़ी। बहुत दिनों तक नौकरी की तलाश में इधर-उधर भटकता रहा किन्तु कुछ लाभ न हुआ। क्षमा करना मोहन! मैं इस बीच में तुम्हारे पास कोई पत्र न भेज सका क्योंकि मैं अब तक उसी दशा में था जिस दशा में तुम्हारे घर से आया था। यह न समझना कि मैं तुम्हें भूल गया था। तुम्हें तथा तुम्हारी सहानुभूति को, जो तुमने दिखाई थी, सम्भवतः दूसरे जन्म तक भी न भूलूंगा। जीवन से उकता ही गया था किन्तु इस नश्वर जगत को त्यागने से पूर्व तुम्हें एक बार देख लेने की हार्दिक इच्छा थी। इसीलिये यहाँ आया था। किन्तु इस दशा में तुम्हारे पास आने के लिये पैरों ने साफ़ इन्कार कर दिया, विवश होकर यहीं बहुत दिनों तक कुली का काम करता रहा। दिन भर भटकते रहने पर भी बाज दिन सायंकाल अन्न देवता के दर्शन न होते

थे। मोहन! उस दिन मेरे हृदय की साध पूरी हो गई। जिस काम के लिये यहाँ आया था पूरा हो गया। मैंने अपने जीवन में अन्न का अंतिम ग्रास भी तुम्हारे प्रदान किये हुये पैसों की कृपा से खाया। अब जीवन की कुछ चाह नहीं रही। दुःख केवल इतना है कि तुम्हारे ऋण से उऋण न हो सका। तुमसे एक और प्रार्थना करनी है, वह यह कि यदि तुम्हें यह पत्र मिले तो जिस दिन तुम इसे पढ़ो उस दिन तो चाहे जी भर कर रो लेना। किन्तु उसके पश्चात् मुझे स्वप्न में देखे हुये मनुष्य के समान भूल जाना। फिर कभी मेरे लिये दुख न मानना। सांसारिक सुख से तो अब तबीयत ऊब गई। अब तो मृत्यु की प्यारी गोद में ही अनन्त शांति दृष्टिगोचर होती है। अच्छा, अन्तिम विदा!

तुम्हारा—

मोती

यह पत्र पढ़ते ही मुझे विस्मृति सी हो गई। चारो ओर अंधकार सा उमड़ता हुआ दृष्टिगोचर होने लगा।

घर लौटते समय मैं सोच रहा था कि वर्तमान समाज-व्यवस्था, जो व्यक्ति को इस प्रकार तोड़ कर, आत्महत्या करने के लिए विवश कर देती है, आख़िरकार कब तक और चलेगी!

क
वि

वह कवि था। "कवि तथा कंगाली का चोली दामन का साथ होता है।' यह कहावत आधुनिक कवियों की दशा देखने से तो नितान्त निराधार प्रतीत होती है, किन्तु वह इस कहावत का सजीव उदाहरण था। उसने कभी सुख का अनुभय नहीं किया था। अपने जीवन में केवल एक वार प्रकाश की एक किरण देखी, किन्तु वही उसकी मृत्यु तथा अमरत्व का कारण हुई। उसके कुटुम्व पर लक्ष्मी का सदा कोप रहा, इसलिए पिता के सामने भी होश संभालने के पश्चात् उसने कभी निश्चिंत् होकर अन्न के दो ग्रास नही खाये। इस समय की तो परिस्थिति ही निराली थी। आपदाओ के इन्हीं अविरल आक्रमणों ने ही शायद उसे कवि वना दिया था!

कवि का जन्म भारत में उस समय हुआ था, जव कि प्रकृति के नियमानुसार मुग़ल साम्राज्य का दीपक सदैव के लिए बुझने से पूर्व एक वार प्रचण्डता से जल उठा था। उस समय आज-कल की

भाँति असंख्य पुस्तकों तथा पत्रों को जन्म देने वाले छापेखाने नहीं थे। वह कविता लिखता, उसे स्वयं दो-चार वार पढ़ता और एक टूटी सी पिटारी में डाल देता। तेजगढ़ राज्य के एक कोने में छोटी सी फूस की एक झोंपड़ी थी। वही था उस कवि का निवास-स्थान।

एक दिन प्रातःकाल के समय वह घूमता हुआ देवी के मन्दिर के निकट आ निकला। यह मन्दिर राजप्रासाद के निकट था। कवि की दृष्टि एक युवती पर पड़ी, जो कुछ दासियों के साथ मन्दिर में पूजनार्थ आई थी। उसे ज्ञात हुआ कि वह राज-कन्या है। कवि ने अपने हृदय में एक प्रकार की उथल-पुथल का अनुभव किया। वह उसकी ओर उसी प्रकार देखता रहा जैसे शिशिर ऋतु में ख़ून जमा देने वाली ठंड की परवाह न करके चांदनी में बैठ कर चांद को देखा करता था। उनके मन्दिर से चले जाने के पश्चात् वह घर आया। अब प्रातःकाल के समय देवी के मन्दिर की ओर जाना उसकी दिन-चर्या में सम्मिलित हो गया। वह भी वहाँ उपासना के लिए जाया करता था, उस पत्थर की प्रतिमा के स्थान पर किसी सजीव प्रतिमा की उपासना के लिए सही, जाता उपासाना के लिए ही था। अब पूर्णिमा को भी प्रातःकाल इन्दु की कांति नष्ट होने पर उसे दुःख न होता, क्योंकि जो समय एक इन्दु के अस्त होने का था, वही था दूसरे इंदु के उदय होने का भी।

× × ×

सायंकाल का समय था! तेजगढ़-नरेश सभा विसर्जन कर दरवार से जाने वाले थे कि द्वारपाल ने आकर सूचना दी—'महाराज एक

दूत देहली से पत्र लाया है।' महाराज की आज्ञा से पत्र लाकर पढ़ा गया। उसमें लिखा था—

सूरसेन !

तुमने पिछली लड़ाई में देहली सलतनत के खिलाफ़ चँदेरी के राजा को मदद दी है। या तो एक महीने के अन्दर हमारी हुकूमत तसलीम कर वतौर जुर्माने के एक करोड़ रुपया दिल्ली भेज दो, वरना तेजगढ़ तहस-नहस कर दिया जायगा।

इस पत्र को सुनते ही महाराज का चेहरा तमतमा उठा, भुजायें फड़कने लगीं। उनके ऊपर जो दोषारोपण किया गया था, नितान्त निराधार था। छोटे-से तेजगढ़ राज्य तथा दिल्ली सलतनत की शक्ति में आकाश-पाताल का अन्तर था। तिस पर भी राजपूत रक्त महाराज की नसों में खौलने लगा। अब तक राजपूताने के प्रायः सभी राज्य दिल्ली सल्तनत की अधीनता स्वीकार कर चुके थे, किन्तु तेजगढ़ राज्य के सिर पर अब तक स्वतन्त्रता का सेहरा लहरा रहा था। महाराज ने कहना आरम्भ किया—

'प्यारे मित्रो'

'आज रणचण्डी तेजगढ़ से भेंट चाहती है। तेजगढ़-राज्य के माथे पर स्वतन्त्रता के सेहरे के स्थान पर परतन्त्रता रूपी कलंक का टीका लगाये जाने की तैयारी हो रही है। आज तुम्हारा कर्तव्य है कि कालिमा का टीका लगने के पूर्व ही यहाँ की श्वेतस्थली को रक्त से सींच कर लाल कर दो। रक्त की लालिमा कलंक की कालिमा का प्रभाव न होने देगी।

यद्यपि हमें ज्ञात है कि दिल्ली की शक्ति के सामने तेजगढ़ का स्वातंत्र्य दीपक कितनी देर ठहर सकता है। किन्तु क्या फिर भी महाराणा प्रताप के मन्त्रिपुत्र द्वारा स्थापित किया गया दुर्ग, दिल्ली सलतनत के आगे, उस दिल्ली सलतनत के आगे जिसके कारण प्रातः स्मरणीय वीरशिरोमणि महाराणा प्रताप जीवन पर्यन्त पहाड़ों तथा जंगलों की खाक छानते रहे, चुपचाप सिर झुका देगा? मित्रो! बलिदान का अवसर भी बड़े सौभाग्य से प्राप्त होता है। राजपूत वीरों के लिए तो रणभूमि ही कर्मक्षेत्र है, तीर्थराज है और है स्वर्ग का फाटक। तेजगढ़ सम्राट के हाथ में जायगा किन्तु किस समय? उस समय जब तेजगढ़-तेजगढ़ न रहेगा, उस समय जब तेजगढ़ का बच्चा बच्चा मातृ-भूमि के लिए प्राणों की आहुति दे चुकेगा, उस समय जब तेजगढ़ मनुष्यों का नहीं अपितु शृगालों, चीलों तथा अबाबीलों का निवासस्थान हो जायगा, उस समय जब यहाँ के जलाशयों के जल में जीवन-प्रदायिनी शक्ति के स्थान पर भयानक मृत्यु नृत्य करने लगेगी, उस समय जब कि यहाँ के मकानों की एक एक दीवार का प्रत्येक रजकण चिरकाल से बिछुड़े हुए अन्य रजकणों के साथ आलिंगन करने लगेगा। बोलो क्या मेरे साथ जन्मभूमि की बलिवेदी पर सर्वस्व बलिदान करने को उद्यत हो।'

'बड़े आनन्द के साथ, बड़े गौरव के साथ, बड़े अभिमान के साथ' सब वीरों ने कहा—'रणचण्डी की जय! स्वतन्त्रता देवी की जय!! स्वतन्त्रता की बलिदेवी पर प्राणों की भेंट चढ़ाने वालों की जय!!! आदि नारों से दरबार गूंज उठा।

दूत से कह दिया गया 'जो कुछ देखा है, वही जाकर कह देना।'

× × ×

कवि की उत्सुकता तथा व्यग्रता दिन-रात बढ़ती गई। अन्त में उसने पत्र लिखा। वह सारा पत्र कविता में था। वह उसके जीवन का चित्र था, हृदय का प्रतिविम्ब था। अगले दिन वह नित्य की भाँति मन्दिर गया। वे सब मन्दिर की परिक्रमा में व्यस्त थीं। थाली मन्दिर में रक्खी हुई थीं। कवि ने अवसर पाकर वह पत्र थाली का साफा हटाकर थाली में रख दिया।

उसके सौभाग्य या दुर्भाग्य से पत्र एक दासी के हाथ लगा और राजकुमारी के स्थान पर महाराजा के हाथ में पहुँच गया। यह बात उस अद्भुत कल्पना शक्ति वाले कवि की कल्पना में भी न आई थी। कवि को राज्य की ओर से आज्ञा हुई कि तीन दिन के अन्दर राज्य की सीमा से बाहर निकल जाय, नहीं तो प्राण-दण्ड दिया जायगा। महाराज ने कर्मचारियों को आज्ञा दी कि यदि इसे तीन दिन पश्चात् राज्य की सीमा में पाओ तो विना किसी पूछताछ के संसार से विदा कर दो।

प्रातःकाल का समय था। भगवान भुवन-भास्कर मायावी ऊषा सुन्दरी का पीछा करते पूर्ण वेग से रथ आगे बढ़ा रहे थे। उनके निकट आते ही ऊषा सुन्दरी अन्तर्द्धान हो गई। उनका मुख-मंडल अरुण हो गया। उस अनन्त शक्तिआगार की इस असफलता पर, पक्षीगण अपनी कलरव ध्वनि में उनका उपहास कर रहे थे। किन्तु इस समय हमारे कवि का ध्यान इन बातों की ओर न

था। वह एक पिटारी से कुछ काग़ज़ के टुकड़े निकाल-निकाल कर एक फटे से मैले कपड़े पर रख रहा था। उसके मुरझाये हुए कमल के समान नेत्रों से अश्रु-बिन्दु निकल कर उसके कपोलों को धो रहे थे। आज उसे अपनी मातृभूमि त्याग देनी होगी। सूर्यास्त होने से पूर्व ही अपने पिता, पितामह की जन्मस्थली की सीमा से निकल जाना होगा और दूर हो जाना होगा इस भूमि के पवित्र रजकणों के साथ ही, इस चिरसंगिनी झोंपड़ी के साथ ही, अपनी उपासना की प्रतिमा राजकुमारी से भी। उसके हृदय-क्षेत्र में विप्लव हो रहा था। उसकी अन्तरात्मा रो रही थी। उन काग़ज़ के टुकड़ो पर अंकित अपने जीवन की कमाई को उसने उस बस्ते में बाँध लिया, और वहाँ से चल दिया, एक बार उस झोंपड़ी के द्वार पर शीश नवा, उस स्थान की धूल अपने मस्तक से लगा और उसे दो-चार निर्मल अश्रु-बिन्दुओं की भेंट प्रदान कर।

× × ×

उसी दिन—

सायंकाल का समय था। अंशुमाली अस्ताचल की ओर प्रस्थान कर रहे थे। तेजगढ़ राज्य से लगभग दो कोस की दूरी पर दिल्ली की सेना टिड्डीदल के समान भूमि को आच्छादित किये हुए थी।

देहली-सम्राट के विश्वासपात्र सेनापति दलपतिसिंह अपने खेमे के सामने टहल रहे थे। उस समय राजपूत ही दिल्ली के मुग़ल साम्राज्य के शक्तिस्तम्भ थे। 'लोहा लोहे को आसानी से काट सकता है', वाली उक्ति से उस समय मुग़ल सम्राट-काम ले रहे थे। साँप के बच्चों को

दूध पिला-पिला कर भुला रखा था। उन्हें धन, पद, तथा सम्मान की सुरा से उन्मत्त बना रखा था। दलपतिसिंह सोच रहे थे—'मुट्ठी भर शक्ति और इतना अभिमान। एक चोट भी सहन न कर सकेगा। व्यर्थ ही अपना अस्तित्व मिटाने पर तुला हुआ है। जब सभी राजपूत राज्य दिल्ली के अधीन होगये तो वही स्वतन्त्रता के वातावरण में साँस क्यों ले! बस कल दो घंटे की लड़ाई में मामला तय हो जायेगा। तेजगढ़ की एक-एक दीवार ज़मीन को चूम रही होगी। सूरसेन बन्दी के रूप में मेरे सामने खड़ा होगा, उस समय मैं उससे पूछूँगा......।'

वे विचारधारा में बह रहे थे कि उनके कानों में किसी के करुण संगीत की ध्वनि पड़ी। उनकी विचार-शृङ्खला भंग हो गई। वे ध्यान से उस संगीत को सुनने लगे। संगीत में संसार की क्षणभंगुरता का सजीव चित्र था, और प्रतिबिम्ब था उस मनुष्य का जो सारा वैभव छोड़ कर सदा के लिए इस नश्वर जगत् से विदा हो रहा हो। उस संगीत में मातृभूमि के प्रति प्रेम तथा कर्त्तव्या-कर्तव्य के विचार भरे हुये थे। वह एक महान् कवि की रचना थी। एक संतप्त हृदय से निकली हुई मर्मभेदी आह थी, उस संगीत में पत्थर को पिघला देने वाली ज्वाला थी, हृदय में विराग उत्पन्न कर देने वाले उपदेश थे और थी मुर्दों में भी जीवन का संचार कर देने वाली जीवन-प्रवाहिनी शक्ति!

आखिरकार दलपतिसिंह भी राजपूत था, अपने आपको भूला हुआ सही, पद तथा सम्मान-सुरा के नशे में चूर सही, किन्तु था राजपूत ही! उसी भूमि का जिसमें बाप्पा रावल तथा महाराणा प्रताप

ने जन्म लिया था, जो जैमल तथा भीमसिंह जैसे असंख्य वीरों के रक्त से सींची जा चुकी थी। उसके हृदय सागर में एक तूफ़ान सा उठ गया। सारे शरीर में विद्युत रेखा सी दौड़ गई, मानो उस कविता के करुण शब्दों ने उसे किसी गहरी नींद से जगा दिया हो। उसे अपने सारे शरीर में ज्वाला सी उत्पन्न होती प्रतीत होने लगी। विचारों ने पलटा खाया, वह सोचने लगा—'मेरी नसों में भी तो वही रक्त है जो महाराणा प्रताप की नसों में था। मैंने भी तो उसी भूमि में जन्म लिया, जिसमें भीमसिंह तथा जयमल ने जन्म लिया था। मैं किस लिये आया हूं! एक राजपूत राज्य के अन्तिम स्वातन्त्र्य-दीपक को सदैव के लिये बुझाने! अपनी मातृभूमि के पैरों में परतन्त्रता की बेड़ियां डालने! धिक्कार है इस जीवन को, मेरे अस्तित्व को! वह आत्मग्लानि से उन्मत्त सा हो कर उस ओर चल दिया, जिस ओर से संगीत की ध्वनि आ रही थी। उसने एक युवक को एक बस्ता अपनी छाती से लगाये राग अलापते हुये आते देखा। दलपति सिंह उसे साथ ले अपने खेमे में आ गया और फिर वही संगीत सुनाने का आग्रह किया। कवि ने फिर संगीत सुनाया और दलपतिसिंह ने सुना। दलपतिसिंह की श्वास की गति तीव्र हो गई थी, दिल तेज़ी के साथ धड़कने लगा था, भुजायें फड़कने लगी थीं। उसने उन्मत्त की भांति कहा 'मित्र आज तुमने मेरे हृदय में प्रकाश किया। मुझे कर्त्तव्य का ज्ञान करा दिया। मैं घृणास्पद पथ पर शीघ्रता के साथ अग्रसर हो रहा था, तुमने मुझे सचेत कर कुमार्ग से सुमार्ग पर ला खड़ा किया। तुम्हारा अनुग्रह जब तक जीवित रहूंगा न भूलूंगा। मुझ पर

थोड़ी सी कृपा और करो। मैं तुम्हें एक पत्र लिखे देता हूं, जहाँ तक हो सके शीघ्र उसे महाराज शूरसेन के पास पहुँचा दो, वे बड़ी चिंता में होंगे।' कवि का हृदय उसी प्रकार खिल उठा जिस प्रकार सूर्य की किरणों के स्पर्श से कमल खिल उठता है। उसे पूरा विश्वास था कि अब उसका अपराध अवश्य क्षमा कर दिया जायगा और उसे फिर कभी-कभी प्राप्त हो जाया करेगा उसी सौन्दर्य की सजीव प्रतिमा की उपासना करने का अवसर! उसने उसी समय उस पत्र के साथ तेज़गढ़ की ओर प्रस्थान किया।

× × ×

पूर्णिमा की रात्री थी। राकेश अपने निर्मल प्रकाश द्वारा चराचर को रजत-छटा प्रदान कर रहे थे। चार बजे का समय होगा, कुछ तारे तो अनंत नभ-आँचल में अंतर्धान हो गये थे और कुछ अपने मंद प्रकाश से राकेश को उसके कार्य में सहायता दे रहे थे। कवि राजप्रासाद से कुछ दूर बैठा अंशुमाली के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा था, उसके लिए यह प्राकृतिक सौंदर्य भी असहनीय हो रहा था। क्योंकि वह शीघ्रातिशीघ्र पत्र महाराज तक पहुँचाने के लिए व्यग्र था। नाना प्रकार के विचार उसके हृदय में हलचल मचा रहे थे। वह सोच रहा था 'आज के सूर्य के साथ ही मेरे भाग्य का सूर्य भी उदय होगा।'

"इस कवि की अनन्त शक्तिशाली रचना ने मेरी निद्रा भंग कर दी। मैं तेजगढ़ का अस्तित्व मिटाने के उद्देश्य से यहाँ आया था किन्तु अब अपने उद्देश्य पर विचार कर आत्मग्लानि से

पानी-पानी हुआ जा रहा हूं। अगर इस कवि का संगीत मेरे जीवन में क्रांति उत्पन्न न कर देता तो कल मैं अपने नीच कर्म द्वारा सदा के लिए इतिहास में घृणा का पात्र बन जाता—उफ़ ! उन दृश्यों की कल्पना मात्र से ही शरीर में विद्युत-रेखा सी दौड़ जाती है। कल सूर्यास्त से पहले तेजगढ़ की भूमि रक्त-स्नान कर पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ जाती, राजपूती स्वतन्त्र राज्य का अन्तिम दीपक भी सदैव के लिए बुझ जाता, किन्तु अब तो मैंने भी अलग स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने की ठानी है !"

कवि पत्र में लिखी इन बातों पर विचार कर सोचता कि 'सम्भवतः महाराज मुझसे प्रसन्न होकर राजकुमारी..........।' किन्तु उसी समय हृदय-प्रदेश के एक कोने से आवाज़ आती—'क्यों हवा में महल बनाता है। कहाँ तो एक झोंपड़ी में रहने वाला निर्धन राजपूत, और कहाँ एक राज-कन्या' ! वह इन्हीं विचारों में गोते लगा रहा था कि राजप्रासाद की ओर से एक सनसनाते हुए तीर ने आकर अन्त कर दिया उसके विचारों के साथ ही उसके जीवन का भी.......। एक प्रहरी ने उस व्यक्ति को जिसे तीन दिन के अन्दर राज्य की सीमा से बाहर निकल जाने की आज्ञा मिली थी, आज चौथे दिन राज्य की सीमा के अन्दर ही नहीं, बल्कि राजप्रासाद के निकट बैठे हुए देखा। उसने निस्संकोच अपने महाराज की आज्ञा का पालन किया था।

× × ×

आजकल तेजगढ़ राजप्रासाद के समीप ही संगमरमर का एक विशाल मन्दिर है। उसकी एक शिला पर अंकित है—'यह मन्दिर

तेजगढ़ नरेश सूरसेन ने महाकवि राकेश की पुण्य-स्मृति में बनवाया। एक बार इस महानात्मा की प्रतिभाशाली रचना ने तेजगढ़ की, सदैव के लिए नष्ट कर दिये जाने जैसे विकट संकट से रक्षा की थी।' कवि की समस्त कृतियाँ मन्दिर की दीवारों पर सुनहले अक्षरों में अंकित हैं। कहते हैं कि कवि की मृत्यु के पश्चात् बहुत दिनों तक एक तपस्विनी तरुण कवि की समाधि पर नित्यप्रति फूल चढ़ाती और समाधि के समीप बैठकर संतप्त हृदय से गाती—

देख चुकी अभिसार जगत का,
बस अब मुझ को चलने दो।
छलना छिपा नेपथ्य दिशा में,
अधिक न मुझको छलने दो!
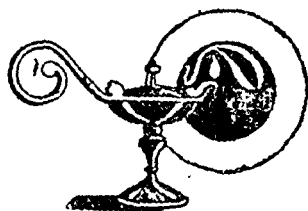
टी
से
ट

"यह टी-सेट कितने का है ?" सुरेश ने ऊपर चाँदी चढ़े तथा अन्दर सुनहली पालिश किये हुए उन चमचमाते प्यालो की ओर सतृष्ण नेत्रों से देखते हुए प्रश्न किया।

"पन्द्रह रुपये का।" दुकानदार ने समीप खड़े दूसरे बाबू को चांदी के फूलदान दिखाते हुए उत्तर दिया।

"पन्द्रह रुपये का !" सुरेश ने दोहराया, मानों उसे अपने कानों के प्रति पूर्ण विश्वास नहीं है।

"हाँ बाबू, पन्द्रह रुपये का।" दुकानदार ने दूसरे फूलदान को कपड़े से साफ़ करते हुए कहा।

एक धीमी सी "हूं" सुरेश के मुंह से निकल गई और वह भीड़ में आँखों से ओझल हो गया !

सुरेश बहुत देर से प्रदर्शिनी में घूम रहा था। प्रत्येक दुकान उसने भली प्रकार देखी थी, क्योकि उसे अपने रवि के लिए

उपहार-स्वरूप भेजने के लिए कोई सुन्दर वस्तु लेनी है। इतनी देर परिश्रम करने के बाद एक वस्तु पसंद आई और पूछने पर उसका मूल्य ज्ञात हुआ पन्द्रह रुपये।

वह प्रदर्शिनी से बाहर आया। जेब से कुछ रुपये, आने, पैसे निकाले; उन्हें गिना, सब मिलाकर पाँच रुपये साढ़े आठ आने थे। उसने अपने व्यय में से दो-दो चार-चार आने बचाये थे। इस प्रकार चार महीने में इस अवसर के लिए पाँच रुपये साढ़े आठ आने बचा पाया और आज टी-सेट का मूल्य पूछा तो ज्ञात हुआ पन्द्रह रुपये।

उसने एक पत्र और एक मुड़ा हुआ काग़ज़ अपने कोट की अन्दर की जेब से निकाला। उसे खोला, उसमें चार नोट थे—दस-दस रुपये के। 'चालीस' उसके ओंठ फरके फिर वह पत्र पढ़ने लगा—"तीस रुपये इस महीने के व्यय के लिए भेजे जा रहे हैं और दस रुपये अधिक। जाड़ा काफ़ी पड़ने लगा है, एक गर्म कोट बनवा लेना···।" इस पत्र को वह कई बार पढ़ चुका था और इस समय उसे दो बार फिर पढ़ा। "जाड़ा·······जाड़ा तो यहाँ अधिक नहीं पड़ता और·····और दो कोट ठंडे मेरे पास हैं हीं, वे काफ़ी हैं।" उसने सोचा और इसी समय आठ वर्ष के उस सुन्दर तथा भोले रवि का चित्र उसके नेत्रों के सम्मुख नाचने लगा। मानों रवि का शरीर पारदर्शक था और उसके पीछे एक और मनोहर चित्र—अरुण पाटल की तुषार-बिन्दु-युक्त अर्ध-विकसित कलिका-सा सुन्दर सजल नेत्रों वाला चेहरा! "नहीं वह कुछ नहीं है—कुछ भी तो नहीं। मुझे अपने रवि के लिए उपहार भेजना है।" मानो सुरेश ने वह चित्र अपने में

अंतर्हित करलिया और प्रदर्शिनी में जा कर उसने वह टी-सेट ख़रीद लिया। उसके एक प्याले तथा एक तश्तरी पर खुदवा दिया, "अपने रवि को सस्नेह भेंट—सुरेश।"

× × ×

टी-सेट लेकर वह होस्टल वापिस आ गया। कमरे में बैठा उसे देख रहा था। एक मित्र ने कमरे में प्रवेश किया। सुरेश टी-सेट के निरीक्षण में निमग्न ही था।

"यह किसके लिए ले आये?" मित्र ने प्रश्न किया।

"एक बहिन है, उसके छोटे भाई के लिए उपहार भेजना है" सुरेश की निद्रा भंग हुई, उसने गर्दन ऊपर बढ़ाते हुए उत्तर दिया।

"यानी अपने छोटे भाई के लिए?" मित्र ने आश्चर्य के साथ कहा।

"हाँ छोटा भाई कहा जा सकता है, किन्तु बहिन सगी नहीं है।" सुरेश ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया। इसके बाद मित्र कमरे से चला गया।

सुरेश ने कमरा बन्द कर दिया। वह घूमने निकला। उसका जी आज न जाने कैसा हो रहा था। वह समीप ही के एक पार्क में आकर बैठ गया। अतीत के चित्र उसके नेत्रों के सामने नाचने लगे।

"मैंने सुना है तुम्हारा विवाह होने वाला है सरोज?", उसने रवि की बहिन से प्रश्न किया था।

"आप भैया से कह दीजियेगा कि मेरी इच्छा है, मैं कम से कम बी० ए० पास कर लूं तब······"इतना कहते-कहते सरोज का गला भर

आया था और दो बड़े-बड़े आँसू उसके कपोलों पर ढुलक गये थे।

"रोती हो सरोज ? पागलपन ! क्या बच्ची ही बनी रहोगी ? विवाह तो एक न एक दिन होना ही है" उसने अपने आपको विस्मृत कर, समझाने का प्रयत्न किया था।

"मैं अपने मन को बहुत समझाती हूं किन्तु चित्त शान्त नहीं होता। कल देवदास देखने गई थी और सारी रात आँसू पोंछते बीती......", सरोज ने किसी प्रकार इतनी बातें कह दी थीं।

"चित्त की शान्ति के लिए प्रभु से प्रार्थना किया करो सरोज और सिनेमा देखना बन्द कर दो। उसमें सब बेकार की, स्वप्न-जगत् की बातें रहती हैं", उसने गम्भीरता पूर्वक कह दिया था, मानो वह देवता है।

सुरेश गतिहीन बैठा शून्य में आँखें फाड़-फाड़ कर देख रहा था और फिल्म उसके मस्तिष्क में चल रही थी।

"देखो सुरेश, भारत में अभी तक स्त्री-समाज कितनी दीन दशा में है। वह अपने व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्ध रखने वाली बातों में भी स्वतन्त्र नहीं", सरोज ने कातर दृष्टि से सुरेश की ओर देखते हुए कहा था।

सुरेश ने इसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया था। जाति-भेद तथा आर्थिक स्थिति-भेद की गहरी-गहरी खाइयाँ उसके नेत्रों के सम्मुख थीं और उनके दोनों किनारों पर गगन-स्पर्शी पर्वत खड़े थे, जिन्हें दोनों कुटुम्बों की कट्टरता ने हिमाच्छादित कर दिया था और ऐसी स्थिति में उन खाइयों को किसी भी किनारे से पार करना सम्भव नहीं था। बहुत

फिल्म सुरेश के मस्तिष्क में चल रहा था। वह गतिशून्य था और उसकी आँखें खुली थीं।

वह सरोज के घर से चल दिया और कुछ काल पश्चात उसे ज्ञात हुआ कि उसके पैरों ने उसे समीप के उस निर्जन बाग में पहुँचा दिया। वह वहाँ पर बैठा बहुत देर तक आँसू पोछता रहा। उस समय उसने सर्वप्रथम अनुभव किया था कि सरोज के कुटुम्ब में एक प्राणी रवि भी है। जब वह घर लौट रहा था तो उसके हृदय में रवि का चित्र गहरा उतरता जा रहा था, मानो उसके रक्त की प्रत्येक बूँद में घुलता जा रहा हो। उस समय उसने देखा था—पश्चिम दिशा की ओर आकाश रक्तिम है, सूर्य अस्ताचल के निकट पहुँच गया है और पक्षी कलरव करते अपने नीड़ों को लौट रहे हैं। और उस दिन के बाद उसने पाया कि रवि उसके हृदय के बहुत निकट है।

एक बछड़े के रांभने के शब्द ने उसका ध्यान भंग कर दिया। उसने अंगड़ाई ली, मानो निद्रा से जगा हो। उसने हाथ से अपने मस्तक को दबाया और सोचा, "उस दिन का रोना मेरा पागलपन था—बिल्कुल पागलपन। देखो अन्त में अपने प्रयत्न में मुझे सफलता प्राप्त हो ही गई"। इस समय उसका चित्त हलका था।

अगले दिन उसने टी-सेट रवि के नाम पार्सल कर दिया।

× × ×

जब एक माह पश्चात् छुट्टियों में वह अपने घर आया तो उसे दो समाचार मिले—अपने पतिगृह से सरोज आई हुई है और रवि बीमार है। वह उसे देखने के लिए उसके घर गया। रवि कोठी के बरामदे

पागलपन ! देखो अन्त में मुझे अपने प्रयत्न में सफलता प्राप्त हो ही गई।" किन्तु आज उसे इस बात की बिल्कुल स्मृति नहीं है। वह बाग़ में जाकर बैठ गया और आँसुओं की झड़ी उसके नेत्रों से लग गई। इस समय रवि की अपेक्षा सरोज का चित्र उसके हृदय में अधिक स्पष्ट था और वह मानों आँसुओं से धुलकर स्पष्टतर होता जा रहा था !

आज भी जब वह बहुत देर पश्चात् किसी प्रकार अपने भारी हृदय का भार सँभाले घर लौट रहा था तो उसने देखा—पश्चिम दिशा की ओर आकाश रक्तिम है। सूर्य अस्ताचल के निकट पहुँच गया है और पक्षी कलरव करते अपने नीड़ों को लौट रहे हैं।

अधूरी कहानी

कड़ाके का जाड़ा ख़ून को जमाकर बर्फ़ बना रहा था। जाड़ा तो कई दिन से पड़ रहा था किन्तु आज दिन भर सूर्य भगवान् के दर्शन न होने तथा मूसलाधार वृष्टि होते रहने के कारण उसमें एक प्रकार का निरालापन था। उस छोटी सी बैठक का दर्वाज़ा तथा दो खिड़कियाँ बन्द किए मैं, एक कम्बल में लिपटा हुआ बैठा, डाइन्मिक्स के सवाल निकाल रहा था। पास ही अंगीठी में पत्थर के कोयले दहक रहे थे। हवा आने के लिए एक खिड़की खोल रक्खी थी। उसी से कभी-कभी हवा का झोंका आकर सारे शरीर में कँपकँपी उत्पन्न कर देता था।

दीवार-घड़ी ने टन-टन-टन करके आठ बजाए। गणित-विचार-शृङ्खला भंग हो गई। ट्यूशन पढ़ाने जाने का समय हो गया था। किवाड़ खोलकर बाहर निकला। आसमान में काले बादल घिरे हुए थे। एक भी नक्षत्र दृष्टि-गोचर न होता था। अन्धकार देखकर
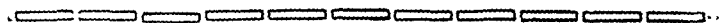
अनुमान किया कि सम्भवतः आज अमावस है। इसी समय विजली चमकी, मेघों ने भयानक अट्टहास किया, एक हवा के झोंके ने आकर शरीर के रोंगटे खड़े कर दिये। उमेश का मकान शहर के वाहर, लगभग एक मील के फ़ासले पर था। सोचने लगा 'ऐसे आँधी-पानी में आज ट्यूशन पढ़ाने नहीं जाऊँगा।' कालेज का भी बहुत सा काम करना था। डाइन्मिक्स के अभी कई सवाल करने बाकी थे। फिर अन्दर आकर किवाड़ बन्द कर लिये और सवाल निकालने लगा। बहुत प्रयत्न किया किन्तु अब सवाल निकालने में मन न लगा। मैं उस समय एक विचित्र प्रकार की बेचैनी का अनुभव कर रहा था। अन्त में ट्यूशन पढ़ाने जाने की ही ठानी।

कम्बल को अच्छी तरह से लपेट तथा छाता लेकर चल दिया। उसी समय ध्यान आया कि यदि वहाँ मुझे इस फटे से काले कम्बल में लिपटा हुआ वह देख लेगी तो क्या सोचेगी! हृदय में मानो बिच्छू ने डंक मारा। दो-चार बार की तीव्र धड़कन में ही उसका नीरव उत्तर निहित था। मैंने कम्बल उतार कर रख दिया और अपनी वह पतली सी इकहरी ऊनी चादर ओढ़ ली और उमेश के घर का रास्ता लिया।

× × ×

जब उमेश को ट्यूशन पढ़ा कर लौट रहा था तो मूसलाधार बारिश हो रही थी। वायुवेग के कारण वह चादर और छाता उस भयंकर जल-वृष्टि में मेरी रक्षा करने में नितान्त असफल रहे। कपड़ों से पानी चूने लगा।

विचारधारा में गोते लगाता आ रहा था "उमेश तुम्हें क्या देता है ? केवल दस रुपये माहवार। यदि कोई ऐसे समय, इतनी दूर केवल एक दिन आने के भी दस रुपए देता तो क्या तुम स्वीकार कर लेते ? 'नहीं' मन ने उत्तर दिया। परमात्मा की कृपा से घर में सुगमता से जीवन व्यतीत करने के लिए काफ़ी ठिकाना है। 'हां तो फिर वहाँ क्यों केवल दस रुपये माहवार के लिए अपना अमूल्य समय नष्ट करने जाते हो ?' इस प्रश्न ने हृदय में उथल-पुथल सी मचा दी। उसकी मनोहर सूरत नेत्रों के सामने नाचने लगी। हृदय ने उत्तर दिया—'उपासना के लिए।' वह मुझे स्नेह की दृष्टि से देखती है। कभी-कभी तो दरवाज़े पर ही खड़ी मिलती है। शायद मेरी प्रतीक्षा में ही उसकी दृष्टि उस पथ पर अठखेलियाँ करती रहती है।

वह स्वर्ग की विभूति के समान सुन्दर है और सरस्वती के समान चतुर। उसका नाम—हाँ, वह प्यारा नाम जो प्रतिक्षण मेरे कानों में गूंजा करता है,—मेरे हृदय-सागर में लहरें उत्पन्न किया करता है, 'सरोज' है। सरोज दसवीं श्रेणी में पढ़ती है। उस दिन से जिस दिन उसने मुझसे एकान्त में पूछा था, 'शंकर ! तुम अंतर्जातीय विवाह को कैसा समझते हो ?' उसके लिए 'बहिन जी' शब्द मेरे मुंह से नहीं निकलते। उमेश के सामने तक बहिन जी कहने का लाख प्रयत्न करने पर भी मुँह से निकल ही जाता है, सरोज ! विचारधारा के प्रभाव से मुझे यह भी ज्ञात नहीं हुआ कि मैं कब घर आकर, कपड़े

बदल कर चारपाई पर लेट गया। विचार-शृंखला तभी भंग हुई जब घड़ी ने टन-टन-टन करके १२ बजाये।

× × ×

उस दिन उमेश सिनेमा देखने गया था। उसके छोटे भाई ने मुझसे कहा कि वे कह गये हैं "जाना मत, साढ़े आठ बजे तक आ जाऊँगा।" मैं उसकी बैठक में किवाड़ बंद कर, एकान्त में बैठ, एक कविता लिखने में संलग्न हो गया।

किवाड़ खुले और फिर बंद हो गये। मैंने देखा सरोज कमरे में मेरे सामने खड़ी है। 'क्या कर रहे हो?' उसने मधुर स्वर में पूछा। 'एक कविता लिख रहा हूं।' मैंने उत्तर दिया। 'क्या सुनाने की कृपा करोगे?' उसने नम्र स्वर में कहा। 'अवश्य। अभी पूर्ण नहीं हुई केवल चार पंक्तियाँ लिखी हैं।' मैंने उत्तर दिया। मेरी उस समय विचित्र सी दशा हो रही थी। शक्ति-संचय कर, वे पंक्तियाँ उसे सुनाईं—

'क्या कभी न होगा इस जीवन में—
उज्ज्वल मनहर मंजु प्रभात?
क्या कभी न बीतेगी यह रात?
रवि-उदय न होगा इस उपवन में?'

उसी समय मोटर के हार्न की ध्वनि सुनाई दी 'शायद। भैया आ गये, अब जाती हूं।' उसने स्नेह तथा विवशता की दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए कहा और दामिनी के समान क्षण भर के लिए

मेरे अंधकारमय जीवन में, प्रकाश की झलक दिखा कर, अंतर्द्धान हो गई।

× × ×

इसी प्रकार समय बीतता गया। वह प्रायः मेरी कहानियाँ पढ़ने के लिए माँगा करती थी, और मुझे अपनी कवितायें ठीक करने के लिए दिया करती थी। समस्या दिन प्रतिदिन जटिल होती जा रही थी। मैं कभी सोचता 'नहीं, वह मुझे प्यार नहीं करती। आज तीन घंटे तक उसके यहाँ बैठा रहा किन्तु एक बार आई तक नहीं।' किन्तु उसी समय हृदय के एक कोने से ध्वनि आई 'क्यों निर्दोष पर शंका कर पाप के भागी बनते हो? वह तुम्हें प्यार करती है। यदि उसके हृदय में तुम्हारे लिए स्नेह न होता तो वह तुम्हें अपनी कवितायें—वे कवितायें जिनमें आशा तथा निराशा के द्वन्द्व की झलक होती है, ठीक करने के बहाने क्यों दिया करती?'

मैं इस उलझन को सुलझाना चाहता था। निश्चित रूप से जानना चाहता था कि मेरे प्रति उसके क्या विचार हैं? प्रायः इच्छानुकूल वार्तालाप करने का सुअवसर भी प्राप्त हो जाता, किन्तु न जाने उस समय मेरे मुँह में कौन सा ताला पड़ जाता था। दृष्टि की मूक भाषा में, मैंने कई बार अनेक प्रश्न करने का प्रयत्न भी किया किन्तु कुछ फल न हुआ। समस्या दिन प्रतिदिन जटिल होती गई। अन्त में एक युक्ति सोच ही निकाली। इन्हीं सब घटनाओं को लेकर मैंने एक अधूरी कहानी लिखी और एक दिन सरोज को दे दी

और कहा 'इसे आधी तो मैंने लिख ली किन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी पूर्ण न कर सका। समझ में नहीं आता आगे क्या लिखूँ। तुम्हीं इसे पूर्ण करने का प्रयत्न करना। बड़ी कृपा होगी।'

वहाँ न जाने उसी दिन क्या घटना घटित हुई कि अगले दिन ही उमेश ने नौकर के हाथ दस रुपये का एक नोट और एक पत्र भेजा। पत्र पढ़ते ही मेरे देवता कूच कर गये। उसमें लिखा था—

भाई शंकर।

कतिपय विशेष कारणों से कुछ दिनो के लिए मुझे ट्यूशन पढ़ना बन्द कर देना पड़ा। नौकर के हाथ फ़ीस के रुपये भेज रहा हूं।

तुम्हारा,

उमेश।

मेरे ऊपर वज्रपात हुआ।

अब तो जाकर कहानी वापिस ले आने का भी कोई बहाना नहीं रहा था। ग़नीमत इतनी हुई कि उस अपूर्ण कहानी की एक प्रति मेरे पास भी थी। उसे ही पढ़कर कभी दिल शांत कर लिया करता—कभी अपने ऊपर झुँझला लिया करता। उमेश ने लिखा था 'कुछ दिनों के लिये ट्यूशन बन्द करनी पड़ी।' मैं बहुत दिनों तक प्रतीक्षा में रहा किन्तु वे कुछ दिन कभी पूरे न हुए।

× × ×

नवयुग-संपादक के कई पत्र आ चुके थे कि कोई कहानी भेजिये। उस घटना के पश्चात् कहानी लिखने में मेरा मन बिल्कुल न लगता। कल उनका एक पत्र फिर आया था! इसीलिए विवश हो कर

आज कुछ लिखने बैठा। यद्यपि सुबह से मूसलाधार वृष्टि हो रही थी। कड़ी सर्दी के कारण हाथ काम करने से इंकार कर रहे थे, फिर भी अँगीठी में धधकती हुई लकड़ियों की लपटों के सामने बैठा कुछ लिखने का प्रयत्न कर रहा था। सहसा मुझे उस अधूरी कहानी की याद आ गई। काफ़ी मनोरंजक थी। सोचने लगा, उसे ही पूर्ण करके क्यों न भेज दूँ। बहुत देर तक परिश्रम किया किन्तु कहानी अधूरी ही रही। उस विषय में कल्पना-शक्ति कुछ काम न देती थी। कहानी में अंकित करने के लिए उन लपटों में, सरोज के अपने प्रति, विचार खोजने का निष्फल प्रयत्न कर रहा था। 'बाबू जी चिट्ठी' विचार-शृंखला भंग हो गई। चिट्ठी लेने के लिए बाहर गया। लिफ़ाफ़े के पते की लिखावट देखते ही हृदय में एक प्रकार का प्रकम्पन सा उत्पन्न हो गया। परिचित अक्षर थे। वह लिखावट मेरी सरोज की ही थी।

शीघ्रता से आकर फिर आग के सामने बैठ गया और पत्र खोला। उसके नीचे लिखा देखते ही 'तुम्हारी सरोज' सारे शरीर में विद्युत रेखा सी दौड़ गई। 'उफ़! सर्वनाश हो गया।' की चीख़ मेरे मुँह से सहसा निकल गई, जब मैंने देखा कि पत्र हाथ से छूट कर आग में गिर गया। हाथ भी क्षण भर में, पत्र का अनुकरण करता हुआ लपेटों को चीरता चला गया! किन्तु कुछ फल न हुआ। चुटकी भर राख के अतिरिक्त और कुछ हाथ न आया। अग्नि की वे निर्मम लपेटें क्षण भर में उस पत्र को कवलित कर गईं और मेरी वह कहानी सदैव के लिए अधूरी ही

रह गई। मैं उन्मत्त की भाँति आँखें फाड़-फाड़ कर अग्नि की उन विकराल लपटों को देख रहा था। उसी समय कोई सड़क पर गाता हुआ जा रहा था—

किस्मत की खूबी देखिये टूटी कहाँ कमंद,
दो चार हाथ जब कि लबे बाम रह गया।

र ज नी के आँ सू

न जाने कितनी गुत्थियाँ संसार में हैं, जिन्हें मानव सुलझा नहीं पाता, किन्तु उन्हें सुलझाए बिना उसके मन को शांति नहीं मिलती और उन्हें सुलझाने के प्रयत्न में उसे सुख मिलता है। उसमें एक प्रकार का दर्द होता है, अन्तर्वेदना-सी होती है। उस दिन सायंकाल को जब मुझे ज्ञात हुआ कि नरेन्द्र आज-कल यहीं है, और वह बीमार है, तो मैं उसे देखने के लिए गया। उसके घर के पास पहुँचा तो देखा, बराबर वाले कमरे से गुन-गुनाने की आवाज़ आ रही है। कुछ और आगे बढ़ा तो गीत स्पष्ट सुनाई देने लगा। कमरे में कोई गा रहा था।

जो बीत चुकी सो बीत चुकी,
अब उसकी याद सतावे क्यो !

गाने वाले की आवाज़ में दर्द था। वह दर्द-भरा स्वर वायु मंडल

में गूँज रहा था, और परिचित सा प्रतीत होता था। गाना शायद नरेन्द्र ही गा रहा था। मेरे हृदय में उस गीत की प्रतिध्वनि हुई।

जो बीत चुकी सो बीत चुकी.....

मैं चुपचाप आगे बढ़ा। सामने की खिड़की से देखा, नरेन्द्र चारपाई पर दीवार से पीठ लगाये बैठा है। बराबर में रखे हुये तकिये पर वह कोहनी के सहारे झुका हुआ है, उसकी दोनों आँखें डबाडब आँसुओं से भरी हैं और वह एकटक छत की ओर देख रहा है।

मैंने जाकर बन्द द्वार खटखटाया। गीत बन्द हो गया। लगभग दो मिनट बाद उसने द्वारा खोला। मैंने देखा वह बहुत दुबला हो गया है, उसका चेहरा उदास है, किन्तु फिर भी वह मुसकराने का प्रयत्न कर रहा है। वह जाकर फिर चारपाई पर बैठ गया! मैंने कुर्सी पर बैठते हुए पूछा—

'बहुत कमज़ोर हो गये हो, तबियत कैसी है?'

'कोई ख़ास बात तो नहीं।' उसने उत्तर दिया 'यों ही बुख़ार सा आ गया था।' और इसके बाद वह फिर मुसकराया। वह मुसकराहट मुझे बहुत वेदना-पूर्ण प्रतीत हुई। मैंने कुर्सी उसके और निकट सरका कर कहा 'अब तो बुख़ार को आराम हो गया है?'

'मालूम नहीं,' 'शायद थोड़ी सी हरारत है' उसने मेरे चेहरे की ओर देखते हुए उत्तर दिया। मैंने उसका हाथ अपने हाथ में लिया। वह गर्म था। उसकी हथेली जल रही थी।

'टेम्परेचर कितना हो जाता है!'

'अधिक नहीं, यही एक सौ दो तक '

'नार्मल किस समय रहता है ?'

'मालूम नहीं, नियमित रूप से तो कभी टेम्परेचर लिया ही नहीं।'

मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो वह अपनी दशा मुझसे छिपाने का प्रयत्न कर रहा है। उसके नेत्रों में करुणा थी।

उसी समय द्वार खोलकर एक लड़का अन्दर आया। आठवीं-नवीं कक्षा का विद्यार्थी मालूम होता था। बातचीत के सिलसिले में उसने पूछा—आजकल साइंस पढ़ने से क्या लाभ है ?

'एक लाभ बड़ा ज़बर्दस्त है।' नरेन्द्र ने गंभीर होकर उत्तर दिया। 'अगर किसी को आत्म-हत्या करनी हो और वह बी०-एस-सी० का विद्यार्थी हो, तो विज्ञानशाला से पोटेशियम साइनाइड चुराकर मृत्यु का बहुत ही सुलभ मार्ग प्राप्त कर सकता है।' उस लड़के ने बीच में कुछ कहने का प्रयत्न किया, किन्तु नरेन्द्र कहता गया, 'देखो, मृत्यु हम लोगों के लिए कोई बहुत अधिक भय की वस्तु नहीं है। भय की वस्तु मरने का तरीका है।'

और मैं आश्चर्य के साथ अपने मन में सोचने लगा—इस परिवर्तन का क्या कुछ ठिकाना है ! यही नरेन्द्र, जो आज से चार वर्ष पूर्व इतना आशावादी था कि ऊँची से ऊँची आकांक्षाएँ उसके सम्मुख थीं, उनमें से किसी को भी पूर्ण करना वह असम्भव नहीं समझता था, और जिस कार्य में हाथ डालता था उसी में सफलता प्राप्त करता था, आज निराशा की साकार-मूर्ति बना, मेरे सम्मुख बैठा है ;

और विज्ञान पढ़ने का एकमात्र लाभ आत्म-हत्या करने की सुलभता बतलाता है।

जब वह लड़का चला गया तो मैंने पूछा—नरेन्द्र आखिर इस परिवर्तन का कारण क्या है?

'तुम्हें यह सुनकर आश्चर्य होगा' उसने उत्तर दिया 'कि मैं अब नास्तिक हो गया हूं। नास्तिक से मेरा तात्पर्य केवल यही नहीं कि ईश्वर की सत्ता पर मेरा विश्वास नहीं रहा। प्रेम, ईश्वर, सहानुभूति, सच्चाई, मित्रता, न्याय जब तक इनमें से एक वस्तु पर भी मनुष्य का विश्वास है तो मेरे विचार से वह नास्तिक नहीं होता। नास्तिक की इनमें से एक वस्तु पर भी आस्था नहीं रहती, और वह आकाश में उड़ती, कटी पतंग के समान भटकता फिरता है। जीवन का कोई भी आधार उसके लिए रह नहीं जाता!'

मैं चुपचाप बैठा उसकी इन बातों को ध्यानपूर्वक सुन रहा था। उसे बीच में रोकना संभव नहीं था। कुछ भी सुने बिना वह कहता गया, देखो श्याम, वास्तविकता कटु है। कुछ लोगों का विचार है कि यथार्थ का ज्ञान हो जाने से मनुष्य को शान्ति मिल जाती है। शायद बहुत ऊँचाई पर उस ज्ञान का कोई ऐसा तल हो, जहाँ द्वन्द्व तथा अशांति का अंत हो जाता हो: किन्तु मेरा तो अनुभव है कि मनुष्य तभी तक सुखी रह सकता है जब तक उसे यथार्थ का ज्ञान नहीं हो जाता। मनुष्य छोटी से छोटी बात में भी स्वार्थ रहित नहीं हो सकता और प्रेम जैसी वस्तु को भी वह साध्य-मात्र बनाकर नहीं रह पाता।

उसे वह साधन बनाता है। और ये ऐसे कटु सत्य हैं कि इनका अनुभव सदा के लिए जीवन में विष घोल देता है।'

उसके इन विचारों से मुझे उस तूफ़ान की एक हलकी-सी झाँकी मिली जो उसके मस्तिष्क में, उसके हृदय में उठा हुआ था, और जिस तूफ़ान को शान्त करने का प्रयत्न उसका यह संगीत था—

जो बीत चुकी सो बीत चुकी......

मैं उसके कटु अनुभवों को जानने के लिए व्यग्र हो गया, जिन्होंने उसके अन्दर और उसके चारों ओर यह भीषण ज्वाला धधका दी थी। किन्तु मुझे कुछ भी पूछने का अवसर नहीं मिला, वह एक प्रकार के उन्माद के साथ कहता गया, 'एक व्यक्ति जो निर्जन मरुभूमि में एक बड़े कलाकार की सेवा शायद एक दिन भी नहीं कर सकता, वह समाज के सम्मुख उसके लिए बहुत कुछ करता है, क्योंकि उसके निकट सम्बन्ध द्वारा वह अपने आपको समाज के समक्ष गौरवान्वित अनुभव करता है। इसके लिए वह उस सम्बन्ध को सही-ग़लत रंगों में रंग कर प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख रखता है?...एक बड़े व्यक्ति को अधिकार है कि वह कुचली हुई आकांक्षाओं द्वारा विनष्ट हुए जीवन पर आँसू बहाये और उसे दूसरों के सम्मुख रखे, किन्तु एक साधारण व्यक्ति को उसके लिए आह तक करने का अधिकार नहीं है! मैं तुमसे पूछता हूं व्यास, क्या उस व्यक्ति के, जो बड़ा नहीं है, हृदय नहीं होता? दर्द को महसूस करने की शक्ति नहीं होती? बड़े आदमी के लिए उसका सम्मान, उसके चारों ओर एकत्रित हुए सहानुभूति दिखलाने वालों का झुंड, मृत्यु के बाद भी

कुछ दिनों तक जीवित रहने की आशा, जीवन के आधार हैं; किन्तु बताओ, उस दूसरे व्यक्ति के लिए जीवन का क्या आधार है! किस डोरी को पकड़कर वह जीवन-पथ पर चले!'

'यह तो सब कुछ ठीक है, नरेन्द्र, किन्तु मुझे भी तो उन घटनाओं का पता चले जिन्होंने तुम्हारे जीवन की गति-विधि में इतना परिवर्तन कर दिया है।' मैंने सहानुभूति के स्वर में कहा।

'उन सब बातों को दोहराना व्यर्थ है।' उसने फिर कहना आरम्भ किया, 'किन्तु फिर भी, क्योंकि तुम्हारा आग्रह है, मैं तुम्हें सब कुछ बताऊँगा। वास्तविक घटना पर आने से पूर्व तुम्हें एक और घटना के विषय में सुनना होगा

'मेरा और रजनी का घर पास-पास था, और बचपन ही से हम दोनों साथ-साथ खेले थे। जब वह लगभग तेरह वर्ष की थी तो हम सब लोग इकट्ठे मसूरी गये थे वहाँ केम्पटी फ़ाल देखने जाने का प्रोग्राम बना फ़ाल किताब घर से लगभग छः मील होगा। हम सब लोग वहाँ पैदल ही गए पानी तीन-चार गज़ की ऊँचाई से, एक चट्टान से, गिरता था। चट्टान चिकनी थी। एक वृक्ष की जड़ें वहाँ फैली हुई थीं। ऊपर जाने के लिए इन्हीं को पकड़ कर चढ़ना पड़ता था। तीन-चार व्यक्ति ऊपर चढ़ चुके थे और तब रजनी चढ़ने लगी। अचानक उसका पैर फिसल गया। हाथ से वृक्ष की जड़ भी छूट गई और वह धड़ाके से ठीक फ़ाल के नीचे जल में जा गिरी। उसके पिता और भाई किनारे पर खड़े चिल्ला रहे थे, और माता छाती पीट रही थी, किन्तु कोई कुछ भी न कर सका। अब तो मेरा प्रेम की

सत्ता पर विश्वास ही नहीं रह गया है; मैं उसे केवल 'इम्पलाइड कान्ट्रैक्ट' मानने लगा हूं, किन्तु उस समय प्रेम की सत्ता पर दृढ़ विश्वास होने पर भी रजनी के लिए प्रेम, केवल मेरी अन्तश्चेतना ही में था। मैं एकदम फ़ाल में कूद गया और पाँच-सात डुबकियाँ खाकर रजनी को निकाल लाया।

'उस घटना के तीन वर्ष बाद जब उसकी माता की मृत्यु हो चुकी थी, उसने एक बार वृक्ष के पत्तों से छन-छनकर आती हुई पूर्ण-इन्दु की चाँदनी में, अपना सिर मेरे वक्षस्थल पर रखकर कहा था, नरेन्द्र, तुमसे अलग होकर मैं दो दिन भी सुखी नहीं रह सकती।

'उसके स्पर्श से मैंने उस दिन अपने सम्पूर्ण शरीर में एक प्रकार की सिहरन का अनुभव किया था और अपनी आत्मा से प्रश्न किया था, क्या कोई भी आघात, कोई भी संघर्ष, इस बन्धन को क्षीण कर सकता है ?

'किन्तु इसके छः ही महीने बाद ऐसी घटना घटित हुई जिसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता।' और इसके बाद वह अचानक चुप होकर सहम-सा गया मानो कोई भयंकर दृश्य उसके सम्मुख आ गया हो। मैंने उसे पुनः संचेत करते हुए कहा—'हाँ, फिर······?'

और वह फिर उद्विग्न स्वर में कहने लगा—

'बी० ए० पास कर लेने के बाद आर्थिक संकट की वजह से मुझे यूनिवर्सिटी छोड़ देनी पड़ी थी। नौकरी की तलाश में मैं इधर-उधर भटक रहा था। तभी कलक्ट्रेट आफ़िस में एक साठ रुपए प्रति मास की जगह खाली हुई। मैंने भी उसके लिए प्रयत्न किया और मुझे

विश्वस्त सूत्र से ज्ञात हुआ कि मैं उसके लिए चुन लिया गया हूँ। इस बात से आगे पढ़ने में असमर्थ होने का दुःख बहुत कुछ हलका हो गया था। मेरी नियुक्ति की बात प्रकाश में आने से पूर्व ही एक दिन अचानक मुझे उसी सूत्र से ज्ञात हुआ कि मैं उस जगह के लिए डिसक्वालीफ़ाइड हो गया हूँ। मेरे विरुद्ध इस बात का प्रमाण दिया गया था कि मैंने क्रान्तिकारी दल में कार्य किया है, प्रमाण-स्वरूप मेरे पास आए हुए कुछ पत्र पेश किए गए थे। जगह के लिए प्रार्थियों में पहला स्थान मेरा था, दूसरा रजनी के किसी दूर के रिश्ते के चचेरे भाई का। मेरे डिसक्वालीफ़ाइड हो जाने पर वह जगह उसी को मिल गई और मेरे लिए सर्विस का द्वार सदैव के लिए बंद हो गया।

'हड़बड़ा कर मैं घर वापस आया। मैंने अपने कमरे में जाकर अपने गुप्त-पत्र निकाल कर देखे, उनमें से कुछ गायब थे। मुझे ज्ञात हुआ कि दो दिन पूर्व मेरी अनुपस्थिति में रजनी मेरे कमरे में आई थी। उसके अतिरिक्त और किसी को उन पत्रों के विषय में ज्ञात भी नहीं था। एक दिन जब मैंने उन्हें निकाल रखा था वह अचानक मेरे कमरे में आ गई थी और उससे कोई भी बात छिपाना मैं आवश्यक भी नहीं समझता था।

'विश्वासघात' शब्द मेरे नेत्रों के सम्मुख बन-बनकर बिगड़ने लगा और अगाध वेदना की एक लहर मेरे सम्पूर्ण शरीर में दौड़ गई। मैं सोचने लगा कि क्या मानव का यही वास्तविक रूप है? क्या यही रजनी जिसने अनेक बार कहा था······नहीं, उन सब बातों को अब नहीं दोहराऊँगा। व्यर्थ! उन्हें दोहराने से अब कुछ लाभ नहीं!'

उस समय वह बिल्कुल उन्मत्त-सा हो गया था जैसे किसी और ही लोक में हो। उसकी साँस तेज़ी के साथ चलने लगी थी और उसके सारे शरीर में प्रकम्पन उत्पन्न हो गया था! थोड़ी देर रुककर, फिर स्वस्थ होकर वह कहने लगा—

'व्यास, उस घटना के पश्चात् एक दिन भी वहाँ रहना मेरे लिए असम्भव हो गया था। अगले दिन सायंकाल ही मैं वहाँ से चल दिया। छः महीने बाद मुझे ज्ञात हुआ कि रजनी का विवाह एक सम्पन्न व्यक्ति के इकलौते लड़के से हो गया है।' और तब उसने एक हाथ से अपने बाल नोचते हुए कहा—'तुम स्वीकार करोगे, व्यास, कि यह काफ़ी कटु अनुभव है, किन्तु मैं तुम्हें अभी एक और तल के विषय में बताऊँगा, जहाँ की कटुता इसकी अपेक्षा सौगुनी अधिक उत्पीड़क होती है। रोटी से लिए पार्थिव तल पर जो संघर्ष है, उसकी कटुता से मैं इनकार नहीं करता, अपार्थिव-जगत् में स्नेह और सहानुभूति के लिए जो संघर्ष है वह सदैव के लिए दो व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध में और जीवन में विष घोल देता है। उस तल पर मनुष्य को ज्ञात होता है कि नितान्त निःस्वार्थ होना मानव के लिए कितना कठिन है। पशुता से मानवता की ओर बढ़ना कितना दूभर है! एक त्यागी मनुष्य जो दूसरे के लिए अपने न जाने कितने पार्थिव स्वार्थों का बलिदान कर सकता है, उस तल पर अनुभव करता है कि छोटी-छोटी बातों के लिए भी त्याग वहाँ अत्यन्त कठिन है। उसी तल से सम्बन्ध रखनेवाली घटना मैं तुम्हें सुनाता हूं।'

और इतने ही में द्वार खुला और अठारह-उन्नीस वर्ष की एक

सुन्दर नवयुवती ने कमरे में प्रवेश किया। उसके नेत्र बड़े-बड़े आकर्षक और रङ्ग दूधिया गुलाब जैसा था, किन्तु चेहरा मुर्झाया हुआ और उदास!

'रजनी!' नरेन्द्र ने आश्चर्य के स्वर में कहा और गर्दन के नीचे से हाथ निकाल कर स्वस्थ होकर बैठ गया। रजनी समीप पड़ी हुई दूसरी कुर्सी पर बैठ गई। तब नरेन्द्र ने पूछा—कब आई? 'यह तो सब ज्ञात हो जायगा, किन्तु पहले तो तुम मेरे प्रश्नों का उत्तर दो।' उसने अत्यन्त वेदना-भरे स्वर में कहा। 'मुझे सूचना मिली थी कि तुम महीनों से बीमार हो। चौबीस घंटे ज्वर रहता है, रात को खांसी भी बहुत उठने लगी है, किन्तु तुम कुछ भी उपचार नहीं करते, किसी को डाक्टर या दवा का नाम तक नहीं लेने देते। नरेन्द्र! यह तुम्हारा क्या रँग-ढँग है?'

रजनी नरेन्द्र के सूखे हुए चेहरे और ढाँचे की ओर देख रही थी। इतना कहते-कहते उसका कंठ भर आया था। नरेन्द्र एकदम बहुत गंभीर हो गया और फिर उसने रजनी के चेहरे की ओर देखते हुए पूछा—रजनी, मेरे पिता नहीं हैं, माता की भी मृत्यु हो चुकी है। भाई-बहन, सगे-सम्बन्धी कोई भी नहीं हैं, जिनके लिए जीने का प्रयत्न करता रहूं। अपने लिए जीने की आकांक्षा रह नहीं गई है! मैं तुमसे पूछता हूं, मेरे जीवन का किसी के लिए क्या महत्व है? आज जी रहा हूं तो उससे किसी को कुछ लाभ नहीं है। कल मर जाऊंगा तो उससे किसी को कुछ हानि भी नहीं होगी!'

'मुझसे ही अपने जीवन का महत्व पूछते हो नरेन्द्र!' रजनी बोल

ही में बोल उठी, किन्तु आगे वह कुछ भी कह न सकी। सँभलने का उसने प्रयत्न किया, किन्तु आँसुओं का सागर उसके नेत्रों से उमड़ पड़ा, और बच्चों की भाँति उसकी हिचकी बँध गई!

उसके बाद वहाँ से मैं चला आया। इसके पूर्व कि मैं नरेन्द्र से उसकी उस अपार्थिव जगत् की अनुभूति के विषय में पूछता, उसकी मृत्यु हो गई। किन्तु आज भी जब एकांत में स्नेह, सहानुभूति, प्रेम पश्चात्ताप आदि पर विचार करने बैठता हूं तो रजनी के वे आँसू, बड़े बड़े प्रश्न-चिह्न बनकर, मेरे नेत्रों के सम्मुख नाचने लगते हैं। मैं उन्हें समझने का प्रयत्न करता हूं, अपने हृदय से पूछता हूं—'उनमें प्रेम, सहानुभूति, करुणा, पश्चात्ताप आदि में से क्या क्या था?' किन्तु इस प्रश्न का उत्तर मुझे कौन दे?

ए
क
प्र
श्न

उस दिन पूर्णिमा थी। सायंकाल अचानक दो मित्रों ने कहा, "आज बोटिंग के लिए चलना चाहिये।"

प्रयाग, मैं पढ़ने के लिए गया हुआ था। वहाँ गर्मियों के दिनों में, चांदनी रात में, बोटिंग के लिए लड़के प्रायः जमुना जाया करते थे; दो बार मैं भी जा चुका था। बिलकुल अकेला रहना मुझे अखरता था। अपने को सबसे अधिक प्रसन्न मैंने उस समय पाया है, जब मेरे साथ केवल एक व्यक्ति और हो, वह भी ऐसा जिसके प्रति मेरे अन्दर आत्मोत्सर्ग की भावना हो, जिसमें मैं कुछ अपनत्व देख सकूं। जब इन्हें बढ़ाने वाले दो-चार और व्यक्ति आ जाते हैं तो मुझे जीवन में कुछ कृत्रिमता, कुछ प्रयास सा प्रतीत होने लगता है। बहुत अधिक भीड़-भाड़ तो मुझे एकदम नापसंद है। इसीलिए पूछा, "और कौन-कौन चलेगा?"

———————————
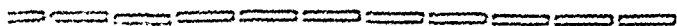
"यही, दो-एक लड़के और। महेन्द्र है, सतीश है। तुम भी चलना।"

"किस समय चलोगे?" उनके आग्रह के उत्तर में अपनी स्वीकृति देकर मैंने पूछा। "यही, नौ बजे चलेंगे, बारह-एक तक लौट आवेंगे।"

यह तो सब कुछ हुआ, किन्तु जब हम लोग चले तो मैंने देखा, मेरे अतिरिक्त ग्यारह लड़के और हैं। कुछ परिचित, कुछ अपरिचित। अपरिचित इसलिए, कि वे दूसरे छात्रावास के, साइंस के विद्यार्थी थे, उनमें मेरा मित्र विक्रम भी था। उसकी उपस्थिति से मुझे प्रसन्नता हुई।

जीवन में अनेक बार मनुष्य अचानक ऐसे काम कर बैठता है, जिनके गलत न होने पर भी, बाद में उन पर उसे पछतावा होता है। और कभी-कभी ऐसी घटनाएँ देखने में आती हैं, जो आसानी से मस्तिष्क को छोड़ती नहीं। ऐसी ही कुछ बातें उस दिन हो गईं।

हाँ, तो इक्के से हम लोग जमुना पहुंचे। इक्के चार करने पड़े थे। मैं उसी इक्के में बैठा था जिसमें विक्रम था।

जमुना तट पर चांदनी में बालू रजत-कण सी फैली हुई थी और परले किनारे पर बालू में चमक की लहर सी उठती प्रतीत होती थी। पूरे चांद और पलक झपकते तारों के झिलमिल करते प्रतिबिम्ब को लिए, लहरें ऊपर उठतीं, नीचे गिरतीं आगे बढ़ रही थीं।

हम लोगों के वहाँ पहुंचते ही, कोई पचास मल्लाहों ने हमें घेर

लिया और तभी मैंने देखा एक और मल्लाह दूर पड़ी एक झोंपड़ी से निकल कर दौड़ा हुआ आया और भीड़ को चीरता हुआ मेरे सामने आ खड़ा हुआ। वह कांप रहा था, कुछ घबराया हुआ सा प्रतीत होता था। उमर कोई चालीस की होगी। उसका काला बदन नंगा था, केवल घुटनों तक की एक धोती सी पहने हुए था। गले में काले डोरे में बँधा एक पीतल का तावीज़ लटक रहा था।

"बाबू चलूं?" उसने आग्रह के साथ पूछा। "कितने पैसे लोगे?" सतीश ने कुछ आगे बढ़कर उसके प्रश्न के उत्तर में दूसरा प्रश्न किया।

"कहाँ चलना होगा?"

"जाना कहीं नहीं है। थोड़ी देर घूम कर लौट आना है। यही कोई दो घंटे लगेंगे।"

"जो मरज़ी हो दे देना बाबू।" उसकी आवाज़ में कुछ गिड़गिड़ाहट सी थी।

"फिर भी तो.....? पहले तै कर लेना अच्छा होता है!" सतीश ने कुछ सख्त होकर कहा।

"अच्छा चार आने दे देना बाबू।"

मुझे आश्चर्य हुआ दो घंटे तक नाव में घुमाने के केवल चार आने। पहले दोनों बार शायद मैंने इससे दुगने के लगभग दिया था।

"चार आने.....ए.....?" सतीश ने ऐसी आवाज़ में कहा मानो नाव वाले ने वाजिब से दस गुने पैसे अधिक मांगे हों। "अच्छा देखो तुम्हें तीन आने मिलेंगे।" नाव वाला चुप रहा।

"मगर हाँ, दो नाव लेनी पड़ेंगी। इतने लड़कों से एक नाव के उलटने का ख़तरा है।" सतीश ने महेन्द्र से कहा।

"नहीं बाबू, नाव में बीस-बीस तक आदमी जाते हैं।" उसी नाव वाले ने विनीत भाव से उत्तर दिया।

"नहीं! नाव उलट गई तो तुम्हारा क्या, तुम तो तैर कर निकल जाओगे।" सतीश ने कुछ गर्मी के साथ उत्तर दिया।

"बाबू मेरे पास दो नाव हैं, दोनो में बैठने के लिए गद्दा बिछा है।" इतने ही में एक दूसरे नाव वाले ने आगे बढ़कर कहा।

सतीश अब उससे मोल-भाव करने में उलझ गया। इन सब बातों में आध घंटे से अधिक बीत गया था। मुझे यह सब बड़ा अरुचिकर सा प्रतीत हो रहा था। अन्दर कुछ घुमड़-घुमड़ कर ऊपर उठ रहा था और उसी के साथ अशान्ति बढ़ती जाती थी।

"देखो भाव तय हो जाय तो मुझे बुला लेना" कहकर मैं यमुना के किनारे पड़े एक लकड़ी के कुन्दे पर बैठकर पानी में पड़ी नाव देखने लगा।

इतने ही में मैंने देखा कुछ लड़के आकर एक नाव में बैठ गए। उनमें विक्रम भी था। महेन्द्र भी उसी नाव की तरफ़ बढ़ रहा था। तभी नाव पर से एक लड़के ने कहा, "इस पर तो छः हो गए अब दूसरी पर।"

मैं ज्यों का त्यो उसी लकड़ी के कुन्दे पर बैठा रहा। सतीश अभी भाव ठीक करने के लिए झगड़ रहा था, "देखो दोनों के सात आने लो तो बाकी लड़के दूसरी नाव पर बैठें।"

नाव वाला आठ आने से कम लेने पर दृढ़ था। नाव में बैठे सब लड़के सतीश की तरफ़ उत्सुकता और बेचैनी के साथ देख रहे थे, मानो वे शीघ्रातिशीघ्र उस झगड़े का निपटारा चाहते हों।

मैं अचानक अपनी जगह से उठा। एक तरफ खड़े उस पहले नाव वाले से मैंने पूछा, "तुम्हारी नाव कौनसी है, चलो।"

और तभी हम दोनों नाव पर चले गए। नाव खोल कर उसने आश्चर्य के साथ पूछा, "बाबू अकेले ही ?"

"हाँ, चलो, तुम्हें पूरे पैसे मिल जायँगे।"

"जीओ राजा बाबू। ऐसी सैर कराऊँ जो जी खुश हो जाय।" उसने गद्‌गद् होकर कहा।

जब नाव चल पड़ी तो विक्रम ने पुकारा 'नवीन'।

"हां, मैं चल रहा हूं, तुम लोग आओ।" मैंने चलती नाव से उत्तर दिया और तभी मल्लाह से नाव तेज़ी के साथ चलाने के लिए कहा।

कुछ ही देर बाद "छपाछप" की आवाज़ आई। मैंने पीछे घूम कर चाँदनी में देखा। दूसरी नाव भी चलने के लिए घूम रही थी और तीसरी नाव में लड़के बैठ चुके थे।

मेरी नाव ऊपर उठती, कुलकुल करती, लहरों के साथ आगे बढ़ रही थी। थोड़ी-थोड़ी हवा भी चल रही थी। गर्मी अधिक नहीं थी किन्तु फिर भी मैं अपने अन्दर एक प्रकार की गर्मी सी महसूस कर रहा था। मैंने कोट उतार कर नाव में रख दिया।

तभी मुझे ख्याल आया, पर मैंने उचित नहीं किया। मेरे हृदय की गहराई से उठ उठ कर यह प्रश्न घुमड़ने लगा—कभी-कभी मैं

इतना एकसेंट्रिक क्यों हो जाता हूं ? क्यों मेरा कार्य सदा साधारण व्यक्ति की भांति उचित नहीं रहता ?

और तभी मैंने देखा जमुना के पुल का प्रतिविम्ब लहरों में झूल झूल कर चांद और तारों के प्रतिविम्ब के साथ अठखेलियां सी कर रहा है। सब कुछ मुझे बड़ा शान्त सा लगा। दूसरे किनारे पर दूर नज़र आने वाले खंडहर दूध में नहा रहे थे। पानी की कल-कल छल-छल मन को थपकी सी दे रही थी। किन्तु रह-रह कर अन्दर प्रश्न उठता, "वे सब क्या कहते होंगे ?" और मन को अशान्त कर एक प्रकार की तीव्र वेदना सी जाग्रत कर देता। तभी मैं सोचने लगा "जीवन को दुखी बनाने में शारीरिक पीड़ा की अपेक्षा मानसिक पीड़ा का अंश कितना अधिक है। और मानसिक पीड़ा के मूल में प्रायः यही भावनायें रहती हैं कि दुनियां क्या कहेगी। अमुक व्यक्ति को ऐसा नहीं करना चाहिये था, उसने ऐसा क्यों किया—।" मेरी नाव की चाल धीमी पड़ गई थी तभी मैंने देखा दोनों नाव आगे निकल गईं। मैं फिर सोचने लगा, "अगर मनुष्य अपने को इस भावना से मुक्त कर सकता कि दुनिया क्या कहती है, वह क्या कहेगी…! वह दूसरे के कर्त्तव्याकर्त्तव्य को सोचकर क्यों दुखी होता है ? क्यों वह केवल अपने ही कर्त्तव्याकर्त्तव्य की भावना में निमग्न नहीं रह पाता ?"

और तभी नाव वाले ने अचानक चौंक कर पूछा, "बाबू लौट चलूं ?"

मैंने गर्दन उठा कर देखा सामने ही किनारे पर एक चिता धू-धू करके जल रही है, और उसकी लपटों का प्रतिविम्ब लहरों में अपना

"बाबू" ! मैं रुक कर घूमा। मैंने देखा मल्लाह भागा चला आ रहा है। उसके पास आ जाने पर मैंने पूछा, "क्या है ?"

"बाबू आपका बटुवा।"......."नाव में गिर गया था।" उसने उसी शांत स्वर में कहा।

अचानक मेरा एक हाथ अन्दर की जेब पर गया। बटवे में दस-दस रुपये के पाँच नोट थे। दूसरे हाथ से मैंने बटवा लिया।

बटवा देकर वह चुपचाप चला गया। मैं जब तक वह आँखों से ओझल नहीं हो गया, एकटक उसकी ओर देखता रहा।

और तभी मेरे मन में प्रश्न उठने लगे, "क्या चिन्नू इसका लड़का था ? उसकी हालत इतनी अधिक ख़राब थी तो यह क्यों चार आने की ख़ातिर उसे दो घण्टे के लिए छोड़ कर चला आया !"

और आज भी जब अकेला बैठता हूं तो पचास का बटवा आगे बढ़ाए उसका शांत गंभीर चेहरा मेरे नेत्रों के सामने आ जाता है और मेरे कानों में शब्द गूंज उठते हैं, "चाचा चिन्नू भैया मर गया ?"....."बाबू आपका बटवा।"....."नाव में गिर गया था।" और मैं अपने मन से पूछता हूं, "क्यों मैं अपने आपको उसे भुलाने में असमर्थ पाता हूं ?"

त्या
ग

लक्ष्मी ने नेत्रों से आँसू पोंछते हुये कहा, "बेटी सिल्लो अपने ताऊ जी से जाकर कह दे कि बहू की हालत बहुत ख़राब है।" बच्चा दौड़ा हुआ बैठक में गया। शीघ्र ही एक व्यक्ति ने बैठक से निकलकर ड्योढ़ी पर ही से कहा, "प्रसूतकाल में कोई औषधि देना उचित नहीं तौ भी मैं जाकर किसी डाक्टरनी को बुलाता हूं। कोई कड़ा नक्षत्र सामने है कुछ दान भी कर दो, भगवान् सब भला करेंगे।"

लक्ष्मी ने सिल्लों से कहलवाया कि हमारे पास तो इस समय एक पैसा भी नहीं है, ट्रंक की ताली तो गुतली से बाबू जी की जेब में चली गई।

"इसकी चिन्ता न करो!" कहकर वह व्यक्ति शीघ्रता के साथ बाहर चला गया, उस समय उसके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रहीं थीं।

नववधू को देखने के लिए एक डाक्टरनी आई। उसने सबको ढाड़स बँधाया। सत्यस्वरूप ने बहुत से डकौतों को बुलाकर तेल और
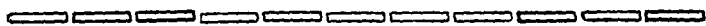
पैसे बाँटे। लक्ष्मी ने भी सकुशल बच्चा हो जाने के लिए प्रसाद क़बूला।

यद्यपि बहू का चित्त अब शान्त था किन्तु चिन्तावश सायंकाल के समय सत्यस्वरूप ने कुछ न खाया। लक्ष्मी को तो रात भर निद्रा देवी के दर्शन भी न हुये। इस नववधू के लिए सबके हृदय में कितना प्रेम था!

× × ×

लक्ष्मी के पति का नाम श्यामसुन्दर था, वे आजमगढ़ में क़ानूनगो थे। इनके कनिष्ट भ्राता राजेन्द्रस्वरूप इटावे में रहते थे। वे वहाँ दफ़्तर में साठ रुपये माहवार के नौकर थे। इनकी पत्नी कमला अपने प्रसूतकाल का समय व्यतीत करने के लिए अपनी जिठानी लक्ष्मी के पास आज़मगढ़ आई हुई थी क्योंकि इटावे में इनके पास कोई और स्त्री नहीं थी।

सत्यस्वरूप आज़मगढ़ ही में पटवारी थे। इनका मुख्य निवास-स्थान तो आजमगढ़ से दस मील की दूरी पर एक गाँव भटैंड था किन्तु ये प्रायः बाबू श्यामसुन्दर ही के पड़ौस में, आज़मगढ़ ही में रहते थे। महामारी की बीमारी में इनकी पत्नी का देहान्त हो गया था अब ये अपने कुटुम्ब में इकले ही थे। बाबू श्यामसुन्दर के सब कुटुम्बियो से इनका विशेष प्रेम हो गया था। ये श्यामसुन्दर की माता भगवता को माता जी कहकर पुकारते थे और श्यामसुन्दर के साथ भाई जैसा बर्ताव करते थे। इन्होंने भगवती से कहा था कि तुम समझना, जहाँ मेरे दो पुत्र ये हैं, तीसरा मैं भी हूं और वे अपने तमाम गृहस्थी

के सामान सहित आकर इस कुटुम्ब में मिल गये थे। प्रातःकाल उठते ही ये कहा करते "परमार्थम् मूलमन्त्रश्च स्वार्थम् सर्वस्व नाशम्"। यही उनका मूलमन्त्र था और वे सदा इसी का जप किया करते थे। उपर्युक्त घटना के समय श्यामसुन्दर दौरे पर गये हुये थे

कमला ने सकुशल एक पुत्र को जन्म दिया। सब की प्रसन्नता का वारापार न था। श्यामसुन्दर भी दौरे से लौट चुके थे। खुशी-खुशी दिन व्यतीत हुए। जसूठन वाले दिन बिरादरी वालों को दावत दी गई। सत्यस्वरूप ने भी बहुत कुछ व्यय किया। तीन माह पश्चात कमला एक सुन्दर शिशु सहित अपने पति के पास इटावे चली गई।

× × ×

खुशी में खुशी का समाचार था। श्यामसुन्दर के ससुर ने, जो इलाहाबाद में रहते थे, उनके लिए वहीं नीलाम में केवल ढाई हज़ार रुपये में ही एक अति सुन्दर भवन ख़रीदा था। बहुत दिनों से श्यामसुन्दर का अपने लिए इलाहाबाद में सुन्दर मकान का प्रबन्ध करने का अपने ससुर से आग्रह था। इस खुशी में भी मिठाई बाँटी गई।

रुपये भेजने के लिए उन्होंने बैठक के ट्रंक का ताला खोला, उसमें रक्खे हुए दो हज़ार रुपये के नोट ग़ायब थे! घर में कोहराम मच गया। पड़ोस वालों को वहाँ एकाएक किसी के हार्टफेल हो जाने की शंका हुई। श्यामसुन्दर को ख्याल आया कि कहीं रुपये भूल से किसी और बक्स में न रख दिये हों। एक-एक करके घर के तमाम बक्सों की तलाशी ली गई। एक-एक कोट की जेब ढूंड डाली। तमाम

घर छान डाला गया पर कहीं नोटों का पता न चला। अचम्भे की बात यह थी कि घर में कोई ऐसा मनुष्य भी न था जिस पर सन्देह किया जाता बहुत से ज्योतषियों की शरण में गये किन्तु कुछ फल न हुआ। घर के सब मनुष्यों का खाना-पीना बन्द था। श्सामसुन्दर चारपाई से न उठे थे।

जब चूल्हा चढ़े तीन दिन हो गये तो सत्य स्वरूप ने श्यामसुन्दर से कहा "इस शोक में अपने शरीर को इस प्रकार घुलाना तो मुझसे नहीं देखा जाता। चाहे आपके रुपये किसी ने निकाले हो, आपको रुपये मिल जायेंगे, मेरे साथ भटेंड चलिए, मैं आपको रुपये दे दूंगा।" घर के सब मनुष्य सहम गये, श्यामसुन्दर ने कहा, "बैठक में चल कर कपड़े पहनों, अभी आता हूं।"

सत्यस्वरूप ने बाहर जाते समय श्यामसुन्दर को कहते सुना "आख़िर निकला न आस्तीन का सांप।" लक्ष्मी ने कहा "और क्या, नहीं तो इस तरह दो हज़ार रुपये देने पर राज़ी होते तो हज़ारों को देखा!" एक पड़ौस की वृद्ध स्त्री ने जो उस समय वहीं थी, कहा "मुझे तो पहले से ही श्यामू की अकल पर बड़ा ताज्जुब था कि उसने एक ग़ैर आदमी को इस तरह अपने घर में क्यों रख रक्खा है। पहले तो खुश थे कि हमारे लिए ख़र्च भी बहुत करता है। सिल्लो की शादी भी करने को कहता है। अब मालूम हो गया न कि अपना जूता और अपना ही सर था।"

लक्ष्मी—इतनी करतूत पर और भी सुना गहाना—

"परमार्थम् मूल मन्त्रश्च स्वार्थम् सर्वस्व नाशम्।"

शीघ्र ही तैयार होकर दोनों चल दिये। श्यामसुन्दर के हाथ में एक छड़ी और सत्यस्वरूप के हाथ में उसके कपड़ों का ट्रंक था। रास्ते में सब मनुष्य उसकी ओर अँगुली उठाते थे किन्तु उसके चेहरे पर ग्लानि या शोक का चिह्न भी न था। उसके चेहरे पर एक अनुपम छटा थी और उसके अधर मधुर मुस्कान के क्रीड़ाक्षेत्र बने हुये थे। उसका मुखमंडल बालरवि-सम शांत और अरुण था।

भटंड पहुंचकर सत्यस्वरूप ने डाकखाने में जमा किये हुये सवा हज़ार रुपये निकाले। पच्चीस रुपये खर्च के लिए रख एक हज़ार दो सौ रुपये उसने श्यामसुन्दर दास के हवाले कर दिये। शेष फिर देने का वायदा किया और कहा कि अगर विश्वास न हो तो शेष के लिए रुक्का लिखे देता हूं। उसने चलती वार कहा था कि मेरी बात पर विश्वास करके चोर के पता चलाने का प्रयत्न न छोड़ना।

सत्यस्वरूप वहीं रह गया, श्यामसुन्दर दास ने उसे चलने के लिए कहा भी नहीं।

× × ×

रुपयों की घटना को हुये डेढ़ साल हो गया। अभी तक श्यामसुन्दर को उन आठ सौ रुपयों में से एक पाई भी नहीं मिली थी। उन्होंने कई वार रुपये माँगे भी किन्तु उत्तर मिला कि मेरे पास डेढ़ हज़ार रुपये के रुक्के हैं, तुम उन्हें ले लो और रुपये वसूल कर लो। अगर यह स्वीकार न हो तो शीघ्र ही प्रवन्ध करके रुपये भेज दूँगा।

घर के सब मनुष्यों ने श्यामसुन्दर दास को विवश किया कि

अदालत की शरण लेकर रुपये वसूल किये जायँ। मकान की मरम्मत कराने के लिए रुपयों की आवश्यकता भी थी। वे भटेंड गये, रुपये माँगे और कहा कि यदि नहीं देते तो मैं सरकारी कारवाई से अभी वसूल कर लूंगा। उत्तर मिला "मेरे पास इस समय रुपये नहीं हैं, होते तो अवश्य दे देता। मेरी आबरू पर पानी न फेरो, इतनी सी बात के लिए किसी के नाम पर धब्बा लगाना उचित नहीं। फिर, मैंने तो आपके रुपये लिए भी नहीं, किन्तु तिस पर भी प्रतिज्ञा कर चुका हूं, दे दूँगा।"

किन्तु उनकी समझ में कुछ न आया। उन्हें तो धनसुरा ने उनमत्त बना रक्खा था। बहुत कुछ कहा-सुना, गाँव के बहुत से मनुष्य वहाँ एकत्र हो गये। श्यामसुन्दर ने उनसे सब हाल कहा कि इस प्रकार यह मेरे यहाँ रहता था और दो हज़ार रुपये निकाल लिए थे, एक हज़ार दो सौ तो दे दिये अब फिर कुछ नीयत में फर्क़ आ गया है। डेढ़ साल हो गया एक पाई भी नहीं दी। अन्त में वे यह कह कर चले गये कि यदि एक मास तक रुपये न आये तो मुझे अदालत की शरण लेनी पड़ेगी!

सत्यस्वरूप के मुख से एक शब्द भी न निकला। उसका सर घूम रहा था। वह अन्दर एक चारपाई पर लेट गया। उसके कानों में यह ध्वनि पड़ी "बनते तो बड़े भक्त थे। अजी इनका तो मूलमन्त्र ही परमार्थ था।"

× × ×

कमला प्रसूतकाल की पीड़ा से व्याकुल थी। लक्ष्मी और

श्यामसुन्दर भी इटावे आये हुये थे। कमला का डेढ़ वर्षीय पुत्र रामू ज्वर से पीड़ित था।

कमला की कोख से एक कन्या ने जन्म लिया किन्तु किसी के चेहरे पर प्रसन्नता के चिह्न न थे क्योंकि रामू की दशा दिन पर दिन ख़राब होती जा रही थी।

एक दिन लक्ष्मी ने रामू के वस्त्र बदलने के लिए कमला का ट्रंक खोला। उसे उसमें से कपड़ों की तह में से एक सुर्ख़ वस्त्र मिला। खोला तो उसमें से एक हज़ार आठ सौ रुपये के नोट बँधे हुये निकले। घर में एक प्रकार का आतंक सा छा गया। रामू की दशा और भी ख़राब हो गई थी। कमला ने यह सोचकर, कि सम्भव है अपने पाप स्वीकार कर लेने से उसके पाप का प्रायश्चित हो जाय और उसके रामू की जान पर आई हुई बला टल जाय, स्वीकार किया कि मैंने ही दो हज़ार रुपये चुराये थे। उसने सारी रात बैठकर परमात्मा से प्रार्थना की कि मेरे लाल की रक्षा कर किन्तु उसके शब्दों में इतनी शक्ति कहाँ थी कि वे वायु के समुद्र को चीरते हुये अंतरिक्ष तक पहुँच जाते। अगले दिन प्रातःकाल वह नव शिशु-पुष्प मुरझा गया और वह अभागिनी अबला पुत्र-शोक में खुलकर रो भी न सकी।

× × ×

श्यामसुन्दर दास को इतना अवकाश न था कि वे बैठ कर शोक मनाते। उन्होंने पहले से ही सत्यस्वरूप के पास क्षमा की प्रार्थना करते हुये रुपये मिलने की सूचना का पत्र भेज दिया था।

इस दुर्घटना के अगले दिन ही उन्होंने रुपयों सहित भटिंड की ओर प्रस्थान किया। भटिंड पहुँचे किन्तु वाटिका को पुष्प-रहित पाया। सत्यस्वरूप के घर में एक ताला पड़ा हुआ था। सत्यस्वरूप इस संसार-सागर की यात्रा समाप्त कर चुका था। उस स्वाभिमानी की मान-हानि हुई थी, उसके कोमल हृदय पर बज्राघात हुआ था, उसकी मानसिक वेदना असह्य हो चुकी थी। मनुष्यों को इस प्रकार लोभ व स्वार्थपरता में लिप्त देख उसे इस संसार से घृणा हो गई थी। उसने उस चारपाई को छोड़ा किन्तु मृत्यु के पश्चात्। श्यामसुन्दर को पड़ोसियों से ज्ञात हुआ कि उसके अन्तिम शब्द थे "परमात्मन् अगर मेरे द्वारा किये गये सुकर्मों का फल तुझे देना स्वीकार होगा तो शीघ्र ही इस बात का प्रमाण देना कि रुपये मैंने नहीं उठाये थे।"

किन्तु उसका पत्र आने पर फिर उसके शरीर में कुछ चेतनता आई। उसे पत्र पढ़कर सुनाया गया। पत्र सुनकर बड़ी कठिनाई से उसने कहा "भगवन तेरा अनुग्रह......" और अपने जीवनकाल की अन्तिम साँस ली!

× × ×

आजकल भटिंड में प्राचीन श्मशान के स्थान पर एक छोटा सा शिव का मन्दिर है। उसके सामने अति स्वादिष्ट जल का एक सुन्दर कुँआ है। मन्दिर के एक शिला-लेख पर अंकित है "यह मन्दिर और कुँआ श्यामसुन्दर दास ने अपने मित्र सत्यस्वरूप की स्मृति में बनवाया।" यह स्थान बहुत से ग्रामों के मध्य में

है। ग्रीष्म ऋतु में पथिक इस मन्दिर में विश्राम करते हैं और इस कुएँ के जल से अपनी पिपासा शांत करते हैं। भटेंड के निवासी प्रति सोमवार को इस कुएँ की मुडेर पर एक घी का दीपक जलाते हैं। अनुमान किया जाता है कि भटेंड में यह प्रथा सत्यस्वरूप की प्रतिष्ठा में प्रचलित है। वहाँ के निवासियों से सुनने में आया है कि कभी-कभी रात्रि को अब भी वहाँ यह ध्वनि सुनाई देती है—

"परमार्थम् मूलमन्त्रश्च स्वार्थम् सर्वस्व नाशम्"

। ग्रीष्म ऋतु में पथिक इस मन्दिर में विश्राम करते हैं और इस
एँ के जल से अपनी पिपासा शांत करते हैं। भटेंड के निवासी प्रति
मिवार को इस कुएँ की मुडेर पर एक घी का दीपक जलाते हैं।
नुमान किया जाता है कि भटेंड में यह प्रथा सत्यस्वरूप की प्रतिष्ठा
प्रचलित है। वहाँ के निवासियों से सुनने में आया है कि कभी-
भी रात्रि को अब भी वहाँ यह ध्वनि सुनाई देती है—

"परमार्थम् मूलमन्त्रश्च स्वार्थम् सर्वस्व नाशम्"